उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAST-110
भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन

Indian Culture and Tourism

पाठ्यक्रम

इकाई 1 भारतीय संस्कृति : अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं एवं इसके विविध आयाम **3**

इकाई 2 भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास–हड़प्पा युग, वैदिक संस्कृति, बौद्ध काल, गुप्त काल **15**

इकाई 3 संस्कृति का संरक्षण :–पर्यटन की संस्कृति बनाम संस्कृति का पर्यटन **42**

इकाई 4 ऐतिहासिक विरासत, पुरातात्विक स्थलों और स्मारकों का संरक्षण, कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण **49**

इकाई 5 सामजिक संरचना : सामाजिक ऐतिहासिक परिदृश्य–वैदिक काल में भारतीय समाज, वैदिक युग के बाद का समाज, गुप्तकाल **55**

इकाई 6 रीति–रिवाज, अनुष्ठान और पंथ **68**

इकाई 7 ललित कलाएँ : नृत्य, सिद्धान्त और तकनीक, नृत्य का ऐतिहासिक विकास, भारतीय शास्त्रीय नृत्य **77**

इकाई 8 भारतीय संगीत : उद्भव और विकास, वर्गीकरण, संगीत के अनिवार्य तत्व **89**

इकाई 9 भारतीय चित्रकला : सौन्दर्यशास्त्र एवं इसके तत्व **102**

इकाई 10 भारतीय रंगमंच : भारत में रंगमंच परम्परा–शास्त्रीय, लोक रंगमंच **113**

इकाई 11 भारत में नाटक परम्परा–शास्त्रीय एवं आधुनिक नाटक **125**

इकाई 12 भारतीय सिनेमा–भारतीय सिनेमा का परिचय,उद्योग के रूप में भारतीय सिनेमा, भारतीय सिनेमा : यथार्थ या फैंटेसी **132**

इकाई 13 प्रमुख स्थापत्य शैलियाँ–हड़प्पा सभ्यता, क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियाँ–प्राचीन काल–स्तूप, गुफा, मंदिर स्थापत्य **143**

इकाई 14 मूर्तिकला : आकार और प्रकार, आरंभिक काल–हड़प्पा सभ्यता, मौर्य, शुंग, कुषाण काल एवं गुप्त काल **156**

इकाई 15 जनजातीय संस्कृति–जनजाति क्या है ? अस्मिता क्या है? अस्मिता के प्रकार, जनजातीय अस्मिता का निर्माण, ऐतिहासिक और भौगोलिक विस्तार–सांस्कृतिक आयाम, सामाजिक संगठन, जनजातीय धर्म **166**

EXP-001/EXP-006

MAST-110
भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन
Indian Culture and Tourism

परामर्श समिति

प्रो. सीमा सिंह	कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, प्रो.राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ.शिवाकान्त त्रिपाठी	सह आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्य प्रदेश (इकाई 1—15)

सम्पादक

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज–2024

ISBN-978-81-973595-8-3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठयसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायीं नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

प्रकाशक – कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ०प्र० राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2025

मुद्रक – चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा० लि० 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड प्रयागराज

EXP-001/EXP-006

इकाई– 1 भारतीय संस्कृति, अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ एवं इसके विविध आयाम

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 संस्कृति क्या है?

1.4 संस्कृति की परिभाषा

1.5 संस्कृति की विशेषताएँ

1.6 संस्कृति के विविध आयाम

1.7 सारांश

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

आप अपने जीवन में अनेक बार संस्कृति के बारे में पढ़े अथवा जानने का प्रयास किये होंगे। संस्कृति का निर्माण एक दिन में नहीं होता है। यह एक दीर्घकालिक परिणाम है जो समाज में रहे हमारे पूर्वजों के माध्यम से हम तक पहुँचा है। मनुष्य की स्थिति, उपलब्धि एवं विकास में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। मनुष्य ही संस्कृति का निर्माता है, जो संस्कृति को अपने बाद आने वाली पीढ़ियों को भी हस्तांतरित करता है। सांस्कृतिक क्रियाकलापों से सभ्यता का विकास होता है, बिना संस्कृति के सभ्यता का विकास तथा अस्तित्व सम्भव नहीं है। संस्कृति के कारण भाषा, तकनीक, लिपि, कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, दर्शन तथा भौतिक सुखों के साधनों का मनुष्यों ने विकास किया। कुछ संस्कृति धार्मिक एवं भौगोलिक सीमाओं में बँधी होती है। इस इकाई में हम भारतीय संस्कृति की बात कर रहे है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- संस्कृति का अर्थ जान पायेंगे।
- विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी संस्कृति की परिभाषा को जान पायेंगे।

EXP-001/EXP-006

- भारतीय संस्कृति की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को जान सकेंगे।

1.3 संस्कृति क्या है?

संस्कृति शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'कृ' धातु से 'क्टिन' प्रत्यय एवं 'सम' उपसर्ग के योग से हुई है। सम+कृ+क्ति = संस्कृति। संस्कृति का अर्थ अत्यंत ही व्यापक है। अंग्रेजी में संस्कृति शब्द के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'कल्चर' शब्द लैटिन शब्द 'कष्ट या कल्रस' से सम्बन्धित है जिसका अर्थ विकसित करना या परिष्कृत करना होता है। संस्कृति में मानव व्यवहार तथा उनका नैतिक मूल्य, ज्ञान, विश्वास एवं कला आदि समाहित होती है। सजीवता, ऊर्जात्मकता, सातव्य, सृजनात्मकता, संस्कृति केसंघटक तत्व हैं तो साहित्य, समतामूलक तत्व, पौराणिकता, दर्शन, नैतिक चेतना, सौन्दर्य चेतना व भाषा संस्कृति की व्यंजना की चारू अभिव्यक्तियाँ है।

1.4 संस्कृति की परिभाषा

भिन्न–भिन्न विद्वानों द्वार संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं–

अल्फ्रेड क्रोएवेर तथा क्लीड क्लुकहोन ने अपनी पुस्तक 'ए क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कांसेप्ट्स एण्ड डिफिनिसन्स' में एक सौ पचास परिभाषाओं की चर्चा की है।

संस्कृति की परिभाषा देते हुए ई0बी0 टॉयलर ने कहा है कि संस्कृति किसी समाज के सदस्यों में अन्तर्निहित ज्ञान, विश्वास, कला, विधि, रीति आदि अनेक क्षमताओं एवं अभ्यारस का संचय है। टॉयलर की इस परिभाषा को सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री मैलिनोत्सकी ने अधिक स्प्ष्ट करते हुए कहा कि वंशानुगत शिल्प तथा, वस्तु, तकनीकी प्रक्रियाएँ, धारणाएँ, अभ्यास तथा मूल्यों का समावेश संस्कृति के अन्तर्गत होता है।

एम0 जे0 हर्सकोविट्स संस्कृति को 'पर्यावरण का मानव द्वारा निर्मित भाग स्वीकार करते है। वहीं ई0ए0 हाबेल संस्कृति को समाज के सदस्यों की विशेषता के रूप में स्वीकारते हैं जो सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है।

जीवन के प्रकाश और मिठास को मैथ्यू ऑरनोल्ड संस्कृति कहते हैं तो वहीं मनुष्य की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों को केसरर सोरोकिन प्रभृति विद्वान 'संस्कृति' की संज्ञा देते है। मैकाइबर संस्कृति को मानवमूल्यों से जोड़ते है।

रेडफील्ड संस्कृति को परम्परा के द्वारा संरक्षित कला एवं वास्तुकला में स्पष्ट होने

EXP-001/EXP-006

वाले परम्परागत ज्ञान के संगठित रूप में देखते हैं जो मनुष्यों की विशेषता बन जाता है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू मनुष्य के आंतरिक विकास, उसकी नैतिक उन्नति, पारस्परिक सद्व्यवहार तथा एक–दूसरे को समझने की शक्ति को संस्कृति स्वीकारते हैं।

सुपरलैंड एट एल समाज के रीति–रिवाजों, व्यवहार की पद्धतियों, उनकी विश्वास तथा मान्यताओं, सोचने तथा कार्य करने के तरीके तथा संस्कृति को कहते है।

डेविड बिडनी संस्कृति को परिभाषित करते हुए संस्कृति को मनुष्य जाति द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण बौद्धिक आदर्शों की परम्परा मानता है।

लैंडिस संस्कृति को दुनिया कहते हैं, एक ऐसी दुनिया जो जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य का निवास स्थल है, जहाँ मनुष्य चलता–फिरता है तथा अपना अस्तित्व बनाये रखता है।

कुद्ध विद्वान संस्कृति में लौकिक संस्कृति तथा अलौकिक संस्कृति का भेद करते है। प्रौद्योगिकी, कला, वास्तुकला, भौतिक तथा घरेलू उपयोग की वस्तुएँ, कृषि एवं व्यापार, युद्ध की वस्तुएँ तथा अन्य समाज में हो रहे क्रियाकलापों को लौकिक संस्कृति के अन्तर्गत रखा गया है। अलौकिक संस्कृति में परम्परा, विश्वास, विधि, भाषा–साहित्य, मिथक तथा परम्परा के अन्य रूपों को स्थान दिया गया है।

1.5 संस्कृति की विशेषताएँ

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का विशिष्ट स्थान है। वैश्विक संस्कृतियों में प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति कार आदरपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद में वर्णित हैं कि 'सा संस्कृति प्रथम विश्ववारा' अर्थात् आदि संस्कृति विश्व के कल्याण के लिये थी। भारतीय संस्कृति विश्व के कल्याण के लिये थी। भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो विश्व की अन्य संस्कृतियों में नहीं पायी जाती। हम इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं–

प्राचीनता–

भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन संस्कृति है। पुरातात्विक अध्ययनों से प्राप्त पुरावशेष तथा उनकी तिथियों से यह सिद्ध हो चला है कि भारतीय संस्कृति का उदय कई सहस्त्राब्दी पूर्व हुआ था। भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए प्रागैतिहासिक उपकरणों ने विश्व की प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के मध्य अपना स्थान स्थापित किया। हड़प्पा सभ्यता के खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि नील नदी तथा मेसोपोटामिया आदि नदी घाटी सभ्यता के भाँति भारत की अपनी एक विकसित सभ्यता थी जो विश्व की

अन्य सभ्यताओं से अधिक विकसित थी। यूरोपीय भूमि पर जन्मी यूनान तथा रोम जैसी संस्कृतियों का जन्म भारतीय संस्कृति के बाद हुआ। भारतीय संस्कृति ने अपने विश्वास, विचार और क्रिया से विश्व के एक बड़े भू–भाग को प्रकाशित किया।

निरन्तरता एवं चिरस्थायिता–

भारतीय संस्कृति में निरन्तरता तथा चिरस्थायिता जैसी विशेषता उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से अलग करती है। मिस्र, सूमेर, अक्काद, बेबीलोन, असीरिया तथा ईरान की संस्कृतियाँ मात्र भूमि के नीचे तथा इतिहास के पृष्ठों पर शेष हैं इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का वर्तमान उसके अतीत के साथ सम्बन्धित है। भारतीय संस्कृति आज भी इस देश को दिशा–निर्देश कर रही है। काल, वंश, साम्राज्य, युद्ध तथा अनेक बाह्य आक्रमणों तथा उनके शासन के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति का लोप नहीं हो सका है, इसका प्रमुख कारण है भारतीय संस्कृति के मूल तत्व का स्थायित्व। भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह प्राचीन तत्वों का संरक्षण तथा नवीन तत्त्वों को ग्रहण करती है। सैन्धव सभ्यता से प्राप्त एवं वेदों में वर्णित देवी–देवताओं का पूजन आज भी होता है। विवाह देश में हो या विदेश में, होटल में हो या सामान्य झोपड़ी में मंगलाचरण, गणेशपूजन, संकल्प, कन्यादान आदि संस्कृतियों में लोगों का विश्वारस अभी भी बना हुआ है। इस प्रकार हमारी आस्था, हमारी प्राचीन भाषा, संस्कृति, दर्शन, कला, पूजा–परम्परा एवं विश्वास पूर्व की भाँति ही जन–जीवन का अभिन्न भाग है। वहीं यदि पश्चिम की ओर देखें तो यूनान तथा रोम की सभ्यताओं के उदात्त धर्म, दर्शन एवं सिद्धान्त का वहाँ के नागरिकों के जीवन में कोई महत्व नहीं है। वर्तमान समय में भी विश्व के अनेक देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान के बावजूद भी भारतीय संस्कृति का मूलतत्व, निरन्तरता तथा चिरस्थायिता विद्यमान है।

धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता–

आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता भारतीय संस्कृति का आधार है। संस्कृति के सभी अंग इससे प्रभावित होते है। धर्म के दो रूपों का वर्णन प्राप्त होता है, प्रथम सैद्धान्तिक पक्ष तथा द्वितीय कर्मकाण्डीय पक्ष। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने भौतिक सुखों तथा उन्नति को गौण समझते हुए आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया। भारतीय जन मानस की आध्यात्मिकता में धर्म के सैद्धान्ति पक्ष का दर्शन होता है। वर्तमान में भौतिकवादी संस्कृति के प्रभाव के बावजूद आध्याात्मिकता ही भारतीय संस्कृति का प्राण है, इसके ही प्रभाव से मनुष्य लोक की सीमा के पार परलोक के अनन्त रहस्यों को जानने के लिये जिज्ञासु रहता है। भारतीय चित्रण आध्यात्मिकता में भौतिकता की उपेक्षपा नहीं करता है बल्कि उसकी इच्छा इसके मूल प्रकृति को जानने की होती है। भारतीय समाज में पुरुषार्थ एवं

EXP-001/EXP-006

आश्रम व्यवस्था मनुष्य के आध्यात्मिक साधना हेतु है। चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है तथा शेष तीन पुरुषार्थ में धर्म प्रधान माना गया है और धर्मानुसार आचरण की बात कही गयी है। महाभारत में कहा गया है कि 'धर्मम् हि यो वर्धयते स पण्डितः' अर्थात् पण्डित वही हैं जो धर्म के द्वारा उन्नति करे। धर्म के द्वारा ही अर्थ और काम की प्राप्ति करता हुआ मनुष्य अंततः मोक्ष को प्राप्त होता है। देवालय चित्रांकन, देव प्रतिमा आदि स्थापत्य का निर्माण धर्म के कर्मकाण्डीय पक्ष के अन्तर्गत आता है। कर्मकाण्डीय के व्यवहारिक पक्ष द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक विचार तथा मूल्यों से जुड़ने पर जोर दिया गया है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति के सभी तत्वों यथा—पशु, वृक्ष, पक्षी, पर्वत, नदी, सरोवर आदि को ईश्वर का अंश स्वीकार किया है तथा आज भी सभी मंगल कार्यों में इन सभी के प्रतीकों के माध्यम से हम इनसे स्वयं को जोड़ते है।

ग्रहणशीलता—

ग्रहणशीलता की प्रकृति भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है। भारतीय संस्कृति का विकास अच्छील एवं ग्रहण करने योग्य बातों को सभी को ग्रहण करना चाहिए। यह प्रतिकूल परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर स्वयं में समाहित कर लेती है। यदि कोई उत्तम बात बाहर से भी सीखी जाने योग्य है तो यह इन नवीन विचारों को परखना श्रेयस्कर मानती है। भारतीय भूमि पर अनेक बाहरी जातियों के आक्रांताओं ने आक्रमण किया। इनमें इण्डो, आर्यन, पारसीक, चीनी, हिन्द—यवन, शक, सीथियन, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क, मुगल, पुर्तगाली तथा अंग्रेज शामिल हैं। भारतीय संस्कृति की ग्रहणशीलता की प्रकृति ने सभी को अपने आंचल में समेट लिया। प्राचीन भारत में आक्रमण करने वाले यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी उन्नति में सहायक बने। महाक्षत्रप रूद्रदामन वैदिक संस्कृति का पोषक था तो वहीं कनिष्क ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर उसका प्रचार—प्रसार किया। बौद्ध धर्म के चतुर्थ संगीति का आयोजन कनिष्क के ही शासन काल में सम्पन्न हुआ था। हिन्द—यवन शाासक मनीण्डर को बौद्ध संघ द्वारा 'यर्हद' का पद दिया गया। हूण शासकों ने शैव धर्म ग्रहण किया। मध्यकाल आते—आते तुर्क तथा मुगल भी स्वयं को भारतीय संस्कृति के प्रभाव से बचा नहीं सके।

सहिष्णुता—

सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का प्रमुख अंग है। सहिष्णुता के कारण ही भारतीय संस्कृति में चिरस्थायिता का गुण विकसित हुआ है। धर्म के नाम पर प्राचीन भारत में अत्याचार तथा रक्तपात प्रायः नहीं हुआ है। भारतीय चिन्ताकों ने धर्म एवं मत को ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग बताया है। ऋग्वेद में कहा गया कि एक सत् है अर्थात् ब्रह्म एक है जिसका वर्णन ज्ञानी लोग विविध प्रकार से करते है। (एक सइ विप्राः बहुधा वदन्ति)।

EXP-001/EXP-006

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य मेरे ही मार्गों का अनुशरण करते हैं (मम वत्येना हि वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः)। सभी भारतीय धर्मों का एक मात्र लक्ष्य जब ईश्वर (मोक्ष) की प्राप्ति है तो आपस में झगड़ों का क्या कारण हो सकता था। जैन धर्म के स्थाईवाद एवं सप्रभेगनीय सिद्धांत तथा बौद्ध धर्म द्वारा दिये गये दूसरे धर्म की आलोचना से बचने का सलाह धार्मिक सहिष्णुता का ही प्रतीक है। अशोक का बारहवां शिलालेख में भी धार्मिक सहिष्णुता की भावाभिव्यक्ति की गयी है। अशोक अपनी प्रजा को सभी धर्मों का आदर करने प्रेमपूर्वक सुनने की सलाह देता है।भारतीय संस्कृति में धार्मिक कट्टरता तथा असहिष्णुता कम ही दृष्टिगोचर होती है। अनेक विदेशी जातियों को इस देश ने विधर्मी न मानकर अपनेपन के साथ उन्हें स्वीकार किया।

समन्वयवादिता–

भारतीय संस्कृति में समन्वयवादी भावना की प्रतिष्ठा की गयी है। आप सभी ने पीछे अध्ययन किया है। किस प्रकार विदेशी जातियों ने भारतीय परम्पराओं के साथ समन्वय स्थापित किया। भारतीय संस्कृति भौतिक तथा आध्यात्मिक सुखों के उपभोग में भी समन्वय की बात करता है। ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है कि 'समानो मंत्रः समानी समान मनं सह चित्तमेषाम्। समानी व आकृतिः समाना हृदयानिवः। समानमस्तु वो मना यथा वः सुसहासति।। भारतीय संस्कृति में अहिवादी विचारधारा के स्थान पर मध्यम मार्ग को उचित माना गया है। गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग समन्वयवादी विचारधारा से प्रेरित है। उन्होंने संसार के सभी धर्मों को सच्चा एवं अच्छा कह उनकी आलोचना से बचने की सलाह दी। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के मध्य समन्वय स्थापित किया है। आश्रम व्यवस्था तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की संकल्पना मनुष्य के जीवन के विभिन्न चरणों को ध्यान में रखकर की गयी है। एकेश्वरवाद की अवधारणा द्वारा भारतीय मनीषियों ने सम्प्रदायों में समरूप स्थापित करने का प्रयास किया। प्राचीन भारतीय शासकों के शासन व्यवस्था में भी समन्वयवादी विचार परिलक्षित होते है। भारत के अलावा विश्व ही अन्य संस्कृतियों में समन्वय की यह संस्कृति दुर्लभ है।

सार्वभौमिकता–

भारतीय संस्कृति अपनी उन्नति के साथ–साथ समस्त विश्व के उन्नति की कामना करती है। भारतीय चिन्तकों ने सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब के रूप में देखा तथा 'विश्वबन्धुत्व' एवं वसुधैव कुटुम्बकम् जैसे सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। भारत के ऋषि मुनियों ने ईश्वर से समस्त सृष्टि के लिये मंगल कामना की है–

EXP-001/EXP-006

"विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुन

यद् भद्रं तन्न या सुव।"

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य मात्र में मित्रता, आपसी सौहार्द तथा एक–दूसरे की सहायता की भावना की वृद्धि के लिये भी ईश्वर से प्रार्थना किया है।

भारतीय मनीषियों ने विश्व के अंधकार को, असत् को तथा नश्वरता को समाप्त करने के लिये ईश्वर से प्रार्थना की है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय असतो मा सद्गमय, मृत्यों मां अमृतं गमयं। इसी प्रकार लोक कल्याण की भावना से प्राणिमान के सुख सर्व कल्याण के लिये निरन्तर प्रार्थना अब भी दृष्टिगोचर होता है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्।।

सार्वभौमिकता की यह भावना साहित्य, दर्शन, कला, स्थापत्य में स्थान–स्थान पर दिखती है। स्थापत्य में देवी, देवी पक्ष गंधर्व आदि मूर्तियों के साथ राजा–रानी, सेवक–सेविका, नृत्य–संगीत, साधु–सन्यासी, राजमहल, झोपड़ी, पुष्प, वृक्ष, पर्वत आदि का यथा स्थान अंकन प्राप्त होता है। भारतीय कला में स्वदेशी एवं विदेशी का भेदभाव नहीं किया गया है। उदयगिरि में यूनानी सैनिक का अंकन, अजंता में ईरानी दैत्यमण्डल का चित्रण भारतीय संस्कृति की सार्वभौमिकता को प्रदर्शित करता है।

अनेकता में एकता–

भारत भौगोलिक रूप से एक विशाल देश है जहाँ पर प्राकृतिक एवं सामाजिक स्तर पर अनेक विविधताएँ तथा विषमताएँ है। यहाँ पर गगन पर्वत हैं तो नीचे विशाल मैदान भी, उर्वरता से भरे खेत भी हैं तो विशाल रेगिस्तान भी, कहीं–कहीं वर्षा ही नहीं होती तो कहीं–कहीं अत्यधिक वर्षा होती है। यहाँ पर विभिन्न भाषा को बोलने वाले तथा भिन्न–भिन्न धर्म को मानने वाले निवास करते है। हाबर्ट रिज़ले ने भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में ठीक ही सीखा है कि भारत में अनेक प्राकृतिक एवं सामाजिक विविधताओं भाषा, प्रथाओं तथा धार्मिक विभिन्नताओं के बीच हिमालय से कन्याकुमारी तक की एक निश्चित आधारभूत समरूपता अब भी देखी जा सकती है। वस्तुतः यहाँ एक समान भारतीय चरित्र एवं व्यक्तित्व हैं जिन्हें हम घटकों में विभाजित नहीं कर सकते। बी0 ए0 स्मिथ ने भी उचित कहा है कि भारत की भिन्नता में एकता निहित है। भारतीय संस्कृति में उपस्थिति एकता को निम्न रूपों में देखा जा सकता है।

EXP-001/EXP-006

भौगोलिक एकता–

भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं से भरा हुआ है। भिन्न–भिन्न प्रकार के दृष्टिगोचर होते है। भारत के पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण में विशाल सागर तथा उत्तर में हिमालय पर्वत है। इन पृथकताओं के बाद भी यह एक देश के रूप में विश्व के मानचित्र पर उपस्थित है जिसे हम सब भारत के नाम से जाना है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने आरम्भ से ही हिमालय से लेकर समुद्र तट के क्षेत्र को अपनी मातृभूमि के रूप में देखाप। विष्णु पुराण में समुद्र के उत्तर तथा हिमाचल के दक्षिण के भू–भाग को भारतवर्ष तथा इस क्षेत्र में जन्में संतानों को भारतीय कहा गया है।

''उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।

वर्ष तद् भारतं नाम भारतीय यत्र संततिः।।

अथर्ववेद में पृथ्वी को माता तथा स्वयं को पुत्र कहकर मातृभूमि के प्रति प्रेम तथा समर्पण को व्यक्त किया गया है– माताभूमि, पुत्रोऽस्य पृथिव्याः। इसी में भूमि को एक गाय के रूप में देखा गया है जो अपने संतानों में भेद न करके सभी के लिये समान भाव रखकर उन्हें अपना दुग्धपान कराती है।

'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी अर्थाकसम्।

सहस्रधारा द्रविणस्य में ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरती।''

भारतीय मनीषियों ने भारतवर्ष को जम्बूद्वीप, भरतखण्ड, कुमारद्वीप, आर्यावर्त तथा कुमारद्वीप आदि नामों से अभिहीत किया है। विष्णु पुराण में इस देश को स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करने हेतु सबसे उत्कृष्ट स्थान बताया गया है–

''गायन्ति देवाः किल गीतकानि,

धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।

स्वर्गापवर्गासपद हेतुभूते

भवन्ति भूयः पुरुषाः सुखव्वात्।।''

राजनैतिक एकता–

प्राचीन काल से ही भारतीय नरेशों की आकांक्षा चक्रवर्ती सम्राट के रूप में स्थापित होने की रही है। इन्होंने एकराट, राजाधिराज, जैसी सार्वभौम उपाधियाँ धारण करने का प्रयत्न किया। सभी शक्तिशाली शासक चतुर्दिक विजय कर स्वयं को चक्रवर्ती सम्राट के रूप में स्थापित करने की आकांक्षा रखते थे। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने हिमालय के

EXP-001/EXP-006

दक्षिण समुद्र तक ही सहस्त्र योजन भूमि को चक्रवर्ती सम्राट का क्षेत्र बताया है। (तस्यां हिमवत् समुद्रांतरम् उदीचीन योजनसहस्त्र परिमानं अतिर्यक् चक्रवर्ति क्षेत्रम्)। वैदिक साहित्य में चक्रवर्ती सम्राटों के लिये अनेक यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध इत्यादि। प्राचीन साहित्यों में राज्यों की सीमाओं के लिये हिमवत् समुद्रान्तरम्, चातुरान्तां महीम्, आसमुद्रपर्यान्ताम् महीम् आदि का प्रयोग किया गया है। प्राचीन भारतीय शासक चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य आदि ने इसी एकता को आदर्श मानकर अपना–अपना अभियान तथा साम्राज्य विस्तार किया। मध्यकाल में मुस्लिम शासकों द्वारा तथा ब्रिटिश काल में अंग्रेजों के द्वारा यह प्रयास किया गया है।

धार्मिक एकता–

भारतीय भू–भाग अनेक प्रकार के धर्मावलम्बी, मतावलम्बी तथा सम्प्रदायावलम्बी का निवास स्थान है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय को मानने वाले यहाँ निवास करते हैं। हिन्दू धर्म में भी शैव उपासक, शाक्त उपासक, वैष्णव उपासक, बहुदेववादी, एकेश्वरवादी, मूर्तिपूजक, निराकारोपासक आदि विभिन्न मतावालम्बियों का वर्णन मिलता है। यह विभाजन सिक्कें एक धर्म अथवा सम्प्रदाय में नहीं है परन्तु यह भिन्नता मात्र बाह्य रूप में ही दृष्टिगोचर है। सभी का तत्त्व तथा लक्ष्य एक है और वह है ईश्वर की प्राप्ति। यहाँ सभी धर्मो, सम्प्रदायों तथा मतों का आदर करने की परम्परा शताब्दियों से चली आ रही है। भारतीय चिन्तकों ने तीर्थ के महत्व को आलोकित किया। आज भी पूजन, स्नान आदि में भारत के सप्तनदियों का स्मरण करके जल में उनके उपस्थिति की कल्पना की जाती है–

'गंगा च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदे सिन्ध कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

प्राचीन मनीषियों ने सात मोक्षदायी तीर्थों का वर्णन किया है जिसका आवाह्न तथा भूमि के रूप में कल्पना आज भी भारतीय भू–भाग के किसी भी क्षेत्र में वैदिक मतावलम्बियों द्वारा किया जाता है–

अयोध्या मथुरा माया काशी कॉंची अवन्तिका।

पुरी इरावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

हिन्दू सम्प्रदायों के अतिरिक्त मुसलमान, पारसी, ईसाई धर्मों की पूजा पद्धति भले ही भिन्न है परन्तु विश्वास तथा विचार भारतीय धार्मिक एकता को प्रदर्शित करते हैं। जैसे वेदन्तियों एवं सूफी सन्तों की विचारधारा में बहुत समानता दृष्टिगोचर होती है।

EXP-001/EXP-006

कहीं–कहीं उपासना में भी एकता दृष्टिगोचर होती है जैसे मुसलमान पीर, सैमद्, मजार की पूजा करते है, हिन्दू अपने देवी–देवताओं की। अन्ततः सभी धर्म मानव–कल्याण, प्रेम व भाईचारा आदि पवित्र लक्ष्यों को लेकर आगे बढ़ते है।

सांस्कृतिक एकता–

भारतीय संस्कृति में अनेक क्षेत्रीय परम्पराएँ, भाषा, साहित्य, धर्म आदि में भी एकता दृष्टिगोचर होती है। ये परम्पराएँ कई शताब्दियों से आपस में विकसित होती चली आ रही है। भारत में तीर्थ स्थल चारों दिशाओं में है। प्रत्येक दिशा में रहने वाले व्यक्ति के लिये दूसरे दिशा के तीर्थ स्थान के लीये अथाह श्रद्धा है। यथा द्वादश ज्योर्तिलिंग भारत के भिन्न–भिन्न भू–भागों में स्थापित हैं परन्तु सभी के लिये सभी भू–भाग में समान श्रद्धा है। इसी प्रकार चार धाम का तीर्थ हिन्दू धर्मावलम्बी के जीवन का प्रमुख उद्देश्य है जो चार अलग–अलग दिशाओं में स्थापित है। एकता के इसी उद्देश्य से शंकराचार्य ने चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की। विष्णु पुराण में भारत की पुण्य भूमि का महत्व बताते हुए कहा गया है कि–

''गायन्ति देवा किस गीतकानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।

स्वर्गापवर्गास्पदः हेतु भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।''

भारत में प्रत्येक क्षेत्र की भिन्न–भिन्न बोलियाँ हैं तथा प्रदेशों की भिन्न–भिन्न राजकीय भाषा है एवं लिपियों में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। प्रमुख रूप से आर्य, द्रविड़ तथा मुण्डा परिवार की भाषाएँ भारतीय भू–भाग पर प्रचलित है जिनका प्राकृत तथा संस्कृत से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि तीनों परिवार की भाषाओं के उन्नयन में संस्कृत का विशाल योगदान रहा है। भिन्न–भिन्न भाषाओं में लिखे गये ग्रंथ समूचे राष्ट्र का गौरव बने। इस प्रकार सभी भाषाओं में बाहरी तौर पर विविधता होते हुए भी आंतरिक रूप से सभी एक है।

भारतीय कला में भी सांस्कृतिक एकता के तत्त्व समाहित है। कला जाति–धर्म, वर्ण–वर्ग से ऊपर सौन्दर्य तथा सह–अस्तित्व का बोध कराता हो। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध, जैन तीर्थकरों की प्रतिभा प्रायः अलग–अलग स्थानों तथा पाषाणों से निर्मित है परन्तु उनके लक्षण तथा मुद्रा में समानता दिखती है। घट, स्वस्तिक, कमल, चक्र आदि कलाकृतियों का उपयोग देश के सभी भू–भागों पर समान रूप से किया जाता है।

सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में अनेक विषमताओं के बाद भी हमें एकरूपता के तत्त्व प्राप्त होते है। व्यापार की परम्परा में विभिन्न क्षेत्रों में पायी जाने वाली वस्तुओं को माँग वाले स्थान पर पहुँचाया जाता था, इनसे सभी स्थान पर सभी वस्तुओं की

EXP-001/EXP-006

उपलब्धता बढ़ी तथा इसमें राज्य की सीमा बाधक न होकर सहायक बनी जिससे एकता की भावना को प्रबलता मिली।

1.6 संस्कृति के विविध आयाम–

प्रमुख रूप से संस्कृत के तीन आयाम दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथमतः संस्कृति एक नियामक प्रणाली है जिसको देखकर लोगों के सामने एक प्रतिमान निर्मित है जिसके अनुसार वह आचरण तथा व्यवहार करते हैं। दूसरा यह लोगों का सांस्कृतिक प्रतीक है जिसमेंलोक में निहित नृत्य, संगीत, साहित्य तथा अन्य प्रदर्शनकारी माध्यम है। तीसरा यह समाज को एक विचार पद्धति प्रदान करती है। काल के अनुसार भी संस्कृति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है शााश्वत, क्षणिक तथा युगीन। जहाँ शाश्वत संस्कृति का संचालन प्रकृति द्वारा होता है तो वहीं युगीन संस्कृतियों राज्य तथा समान का योगदान होता है तथा क्षणिक संस्कृति बाजार तथा उपभोक्ता के कामनानुसार परिवर्तित होती रहती है।

1.7 सारांश

भारतीय संस्कृति विविधताओं से समृद्ध है जिसमें एकता इस देश को वैश्विक संस्कृति के बीच रह अद्वितीय स्थान प्रदान करता है। यहाँ के निवासी भले ही भिन्न–भिन्न मतों, विश्वासों, संस्थाओं, धर्मों तथा सम्प्रदायों पर आस्था रखते हो परन्तु उनके आस्था के केन्द्र में सदैव भारत रहा है जिसके अन्तर्गत ये सभी आते हैं। भारतवासियों ने सदा से इस भूमि को अपनी माता तथा स्वयं को भारत माता की संतति के रूप में स्वीकारा है। यह भाव, जाति, रंग, रीति–रिवाज, भाषा, वेशभूषा आदि असंख्य असमानताओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण भारतवासी को एकता के सूत्र में बांधती है। राधाकुमुद मुखर्जी भारतीय संस्कृति में व्याप्त एकता को वर्तमान भारत के राष्ट्रीय जीवन को रचनात्मक बनाने में विशेष सहायक मानते हैं।

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- साहित्यकोश, प्रथम संस्करण, 1958
- एम0 जे0 हर्सकोविट्स : मैन एण्ड हिज वर्क, 1995
- ई0 ए0 हौबेल : मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड
- द्वादश शिलालेख (गिरनार संस्करण)
- यजुर्वेद

EXP-001/EXP-006

- अथर्ववेद
- विष्णु पुराण
- कुमार सम्भव
- एच. एन. दूबे : भारतीय संस्कृति
- के0 सी0 श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति

1.9 बोध प्रश्न

1. विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी भारतीय संस्कृति की परिभाषा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन करते हुए प्राचीन धार्मिक मान्यताओं की वर्तमान में प्रासंगिकता बताइये।
3. भारतीय संस्कृति में 'अनेकता में एकता' विषय पर निबन्ध लिखिए।

EXP-001/EXP-006

इकाई–2– भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास : हड़प्पा युग, वैदिक युग, बौद्ध काल, गुप्तकाल

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 भारतीय संस्कृति

2.3 भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास(हड़प्पा युग)

2.3.1 नगर नियोजन

2.3.2 भवन नियोजन

2.3.3 विशाल अन्नागार

2.3.4 महास्नानागार

2.4 सैन्धव कला

2.4.1 प्रस्तर मूर्तिकला

2.4.2 धातु मूर्तियाँ

2.4.3 मृण्मूर्तियाँ

2.4.4 मुहरें

2.4.5 मनके

2.5 सामाजिक स्थिति

2.5.1 सामाजिक संगठन

2.5.2 स्त्रियों की स्थिति

2.5.3 भोजन तथा वस्त्राभूषण

2.5.4 अस्त्र, शस्त्र व मनोरंजन सामग्रियाँ

2.6 सामाजिक स्थिति

2.6.1 मातृदेवी की पूजा

2.6.2 शिव पूजा

2.6.3 लिंग तथा योनि पूजा

EXP-001/EXP-006

2.6.4 पशु पूजा

2.6.5 वृक्ष पूजा

2.6.6 जल पूजा व सूर्य पूजा

2.6.7 अंतिम संस्कार

2.7 आर्थिक स्थिति

2.7.1 कृषि

2.7.2 पशुपालन

2.7.3 व्यापार एवं वाणिज्य

2.8 राजनीतिक स्थिति

2.9 वैदिक युग

2.9.1 सामाजिक जीवन

2.9.2 परिवार

2.9.3 वर्ण व्यवस्था

2.9.4 विवाह

2.9.5 स्त्रियों की दशा

2.9.6 वस्त्राभूषण

2.9.7 भोजन

2.9.8 मनोरंजन के साधन

2.10 आर्थिक स्थिति

2.10.1 कृषि व पशुपालन

2.10.2 व्यवसाय तथा व्यापार वाणिज्य

2.11 धार्मिक स्थिति

2.12 राजनीतिक स्थिति

2.12.1 प्रशासनिक व्यवस्था

2.12.1.1 राजा

EXP-001/EXP-006

2.12.1.2 पुरोहित

2.12.1.3 सेनापति

2.12.1.4 सभा एवं समिति

2.12.1.5 विदथ

2.13 उत्तर वैदिक कालीन स्थिति

2.16 सारांश

2.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.18 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों के अंतर्गत भारतीय संस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। विभिन्न भू–भागों में भौगोलिक विविधताओं के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति में विविधता परिलक्षित होती है। उत्तर में हिमालय के पर्वतों से लेकर दक्षिण में समुद्रतटीय क्षेत्र और पश्चिम में राजस्थान के मरूस्थलीय भागों से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास का निर्देशन प्रदर्शित होता है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिण

वर्ष तद्भारतं नामं भारती यत्र सन्ततिः।'' –वायु पुराण

समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला भू–भाग यहाँ सदैव एक इकाई के रूप में माना जाता है। जहाँ सांस्कृतिक विविधता में भी एकता के गुण परिलक्षित होते है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विकास क्रम के विविध आयामों के विषय में।
- भारतीय संस्कृति के विविध आयामों के विषय में।

भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास

भारतीय संस्कृति के इतिहास का प्रथम विकसित चरण सिन्धु सभ्यता के संस्कृति से दिखलाई पड़ता है। चार्ल्स मैसेन ने सर्वप्रथम 1826 में हड़प्पा के विषय में सूचना दी तथा हड़प्पा की खोज 1921 में सर्वप्रथम रायबहादुर, दयाराम साहनी द्वारा की गई।

EXP-001/EXP-006

1922 में राखलदास बनर्जी ने मोहनजोदड़ों की खोज की। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों के उत्खननों तथा इनसे सम्बन्धित अन्य पुरास्थलों की खोज से एक समान सांस्कृतिक लक्ष्यों का निर्देशन होता है जिनकी अपनी विशेषताऐं है जो निम्नवत् है–

2.3.1 नगर नियोजन

सिन्धु संस्कृति की एक मुख्य विशेषता सुनियोजित नगरों का निर्माण है। सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगरों में सुनियोजित सड़के, नालियों की व्यवस्था एवं सफाई व्यवस्था सिन्धु सभ्यता की प्रमुख विशेषता है। नगर प्रायः दो भागों में विभाजित थे जिसमें से एक भाग गढ़ी क्षेत्र, दूसरा भाग आवासीय क्षेत्र था। गढ़ी क्षेत्र में प्रमुखतः महत्वपूर्ण संस्थान, प्रशासनिक कार्यालय आदि स्थित थे जिसमें प्रशासनिक प्रमुख, प्रशासनिक अधिकारी, रक्षा तथा अन्य सैन्य अधिकारी पुरोहित वर्ग का निवास था। आवासीय क्षेत्र में सामान्य जन, कामगार वर्ग, शिल्पकार, व्यापारिक वर्ग रहते थे।

सिन्धु संस्कृति के नगर नियोजन का मुख्य आधार सड़के थी जो पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की दिशा में एक दूसरे को समकोण पर काटती थी। इसके नगर संरचना को विद्वानों ने ऑक्सफोर्ड शरकश नाम दिया है।

2.3.2 भवन नियोजन

सिन्धु सभ्यता के भवन का निर्माण सुनियोजित प्रकार से किया गया है, इन भवनों में प्रायः आंगन, अतिथिगृह, रसोई, स्नानगृह, शौचालय एवं कुएँ निर्मित होने के साक्ष्य मिलते है। मोहनजोदड़ों से 600 कुऐं व हड़प्पा से एक भी कुओं के अवशेष नहीं मिले हैं। भवन पक्की ईटों से बने थे। आयताकार ईटों का प्रयोग मिलता है जिसकी माप 4 : 2 : 1 के अनुपात में थी। मकानों की दीवारों पर प्लास्टर के साक्ष्य है। मकानों के दरवाजे व खिड़कियाँ गली की तरफ खुलते थे। एक मात्र लोथल ऐसा नगर था जहाँ दरवाजे व खिड़कियाँ सड़क की तरफ खुले थे। मकानों के गंदे पानी का निकासन नालियों में होता था। मोहनजोदड़ों के गढ़ी वाले क्षेत्र में प्राप्त एक भवन से 80 फुट लम्बा एवं 80 फुट चौड़ा, 20 स्तम्भों वाला भवन मिला है जिसे 'सार्वजनिक परिषद सभागृह' कहा गया है।

2.3.3 विशाल अन्नागार

हड़प्पा के दुर्ग क्षेत्र से विशाल अन्नागार मिला है जहाँ आपातकाल के लिए अन्नों का संग्रह कार्य किया जाता था। इसके अंतर्गत अनेक भवनों जैसे छोटे–छोटे अनाज के संग्रहालय, श्रमिकों के निवास स्थान तथा अनाज पीसने के गोलाकार चबूतरे बने हुए है। अनाज भण्डागारों का प्रवेश द्वार सिन्धु नदी की ओर खुलता था।

EXP-001/EXP-006

2.3.4 महास्नानागार

मोहनजोदड़ों के दुर्ग क्षेत्र में बृहत स्नानागार प्राप्त होता है। जलाशय के चारों ओर बरामदें, स्नान हेतु चबूतरे तथा अंदर जाने के लिए 8 ईंच चौड़ी तथा 8 ईंच ऊँची सीढ़ियों का निर्माण किया गया है। स्नानागार की जल के निष्कासन के लिए विशाल नालियों का निर्माण किया गया है। ए0 एल0 बाशम ने इसे धार्मिक महत्व का बताया है।

2.4 सैन्धव कला

सिन्धु सभ्यता के मानवों ने उत्कृष्ट कला का सृजन किया और सिन्धु सभ्यता का एक सर्वोच्च सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया जो निम्नवत है–

2.4.1 प्रस्तर मूर्तिकला

सिन्धु घाटी से प्रस्तर की कुल 13 छोटी मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जो लाईम स्टोन, अल्तेसर तथा सेलखड़ी के पत्थर से निर्मित की गई है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मूर्तियों में से 4 मूर्तियों में मनुष्य के सिर की आकृति, पांच में बैठी हुई आकृति एवं दो मूर्तियाँ पशु की प्राप्त हुई है तथा हड़प्पा से मिली दो पत्थर की मूर्तियों में एक मनुष्य तथा एक स्त्री की है।

2.4.2 धातु मूर्तियाँ

सिन्धु संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता धातु की विविध प्रकार की मूर्तियाँ है। धातु से निर्मित मानव मूर्तियाँ, पशु मूर्तियाँ एवं अन्य भौतिक वस्तुओं की कलात्मक मूर्तियों का निर्माण किया। तांबे का कुत्ता, बैल, चिड़िया, खरगोश, भेड़, भैंसा, बैलगाड़ी आदि प्राप्त हुई है। इन मूर्तियों का निर्माण 'मोम सांचा विधि' से किया गया है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की कांस्य प्रतिमा प्राप्त हुई है।

2.4.3 मृण्मूर्तियाँ

सिन्धु सभ्यता से स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी एवं जलीय जीवों एवं खिलौनों की प्राप्ति हुई है। स्त्री मूर्तियाँ बहुसंख्यक रूप से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ हाथ से बनी हुई तथा आग से पका कर निर्मित की गई है। पशुओं में बैल, ऊँट, भेड़, बकरा, भैंसा, कुत्ता, खरगोश, बंदर, सुअर, भालू, हाथी, बाघ, गैंडा आदि की खिलौना प्रतिमाएं मिली है।

2.4.4 मुहरें

सैंधव सभ्यता से 3000 मुहरें प्राप्त हुई हैं जो सेलखड़ी से निर्मित हुई है साथ ही साथ मिट्टी, काचली मिट्टी, चर्ट, गोमेद व तांबे की बनी हुई मुहरे भी सैंधव स्थलों से प्राप्त हुई है। मुहरे आयताकार, वर्गाकार, गोलाकार, घनाकार, अण्डाकार आदि आकार में

EXP-001/EXP-006

मिली है। मोहनजोदड़ों से एक पशुपति शिव की मुहर भी प्राप्त हुई है जिसे मार्शल ने शिव का प्रथम प्रतिमा माना है।

2.4.5 मनके

सैंधव सभ्यता के लोगों ने उत्कृष्ट शैली के मनकों का निर्माण करवाया। लोथल और चन्हूदाड़ों से मनके बनाने का कारखाना प्राप्त हुआ है। मनके प्रायः पकी मिट्टी, सेलखड़ी, हाथी दाँत, सोने, चांदी, तांबे, गोमेद, शंख, सीप आदि से बनाये गये है। प्रायः मनकों का आकार अण्डाकार, बेलनाकार, गोलाकार, चक्राकार, अर्द्ध–वृत्ताकार आकार में मिले हैं।

2.4.6 मृदभाण्ड

सिन्धु संस्कृति के लोग अद्भुत शैली के मृदभाण्डों का निर्माण करते थे। मृदभाण्डों पर उत्कृष्ट अलंकरण एवं लिपि अंकित की गई है। इनका निर्माण चाक पर किया गया है। ये लाल व गुलाबी रंग के है तथा इन पर ज्यामितीय व पशु–पक्षियों का अलंकर भी प्राप्त होता है।

2.5 सामाजिक स्थिति

सिन्धु सभ्यता के पुरास्थलों के उत्खनन से उच्च नगरीय सामाजिक जीवन शैली का चित्रण प्रस्तुत होता है। यहाँ पर किसी भी प्रकार की कोई सामाजिक असमानता के गुण प्रदर्शित नहीं होते है।

2.5.1 सामाजिक संगठन

समाज की इकाई परिवार थी तथा मातृ प्रधान समाज था। व्यवसाय के आधार पर समाज को 4 भागों में वर्गीकृत किया गया था– विद्वान वर्ग, योद्धा व प्रशासनिक अधिकारी वर्ग, व्यवसायी तथा श्रमजीवी वर्ग।

2.5.2 स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित ज्ञान मुख्यतः पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर होता है। सिन्धु संस्कृति के लोग स्त्री की प्रतिमाओं का निर्माण बड़ी मात्रा में कराते थे। मातृ सत्तात्मक समाज था। इस संस्कृति के लोग अनेक प्रकार के आभूषणों एवं प्रसाधन सामग्री का प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ों से 14 सेमी लम्बी कांस्य नर्तकी की प्रतिमा प्राप्त हुई है।

EXP-001/EXP-006

2.5.3 भोजन तथा वस्त्राभूषण

ये लोग शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों थे। मुख्य भोज्य पदार्थ गेहूँ था तथा सिन्धु सभ्यता के लोग जौ, फल, तरबूज, दूध, दही, बकरी, सुअर, गाय, बत्तख, मुर्गा आदि का सेवन करते थे तथा सिन्धु निवासी साधारणतः सूती वस्त्र पहनते थे। मोहनजोदड़ों से सूती धागों के अवशेष प्राप्त हुए है, ऊनी वस्त्रों का प्रयोग भी इनके द्वारा किया जाता था। ये लोग अधिकांशतः शाल और धोती का प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ों से खण्डित अवस्था में प्राप्त एक मूर्ति में पुरुष नक्काशीदार अलंकृत शाल ओढ़े हुए प्राप्त हुआ है। स्त्री और पुरुष दोनों ही कण्ठहार, केश बंध, बाजूबंध, अंगूठी, कुण्डल आदि पहनते हुए अंकित मिले है। काजल, श्रृंगारदान, लिपिस्टक, अंजन, शलाका, दर्पण, कंघी, पिन, इबू आदि सामग्रियाँ भी सिन्धु कालीन स्थलों से प्राप्त हुई है।

2.5.4 अस्त्र, शस्त्र व मनोरंजन सामग्रियाँ

तीर, भाले, कुठार, कुल्हाड़ी, धनुष आदि के अवशेष सिन्धु सभ्यता कालीन स्थलों से प्राप्त हुए है जो ताँबे व कांस्य से मिलकर बने हुए थे। पत्थर के हथियार भी प्राप्त हुए है।

2.6 धार्मिक स्थिति

सिन्धु सभ्यता से प्राप्त सामग्रियों से धार्मिकता का भी ज्ञान होता है। सिन्धु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से मातृदेवी, शिवलिंग, योनि पूजा, पशु पूजा, वृक्ष पूजा, जल पूजा, सूर्य पूजा आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।

2.6.1 मातृदेवी की पूजा

सिन्धु कालीन पुरास्थलों से स्त्री प्रतिमाएं प्राप्त होती है जिन्हें 4 वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है– नग्न स्त्री, खड़ी सुसज्जित स्त्री, बैठी स्त्री, मौ पुत्र की मूर्तियाँ। मातृदेवी की मूर्तियों में विशेषतः उर्वरता के प्रतीक चिन्ह, शिशु को गोद में लिए हुए, शिशु को दूध पिलाते हुए अंकित है। एक स्त्री के गर्भ से पौधा निकलता हुआ प्रदर्शित है जिसकी तुलना उर्वरता के प्रतीक पृथ्वी माँ से की गई है। कुछ स्त्री प्रतिमाओं पर धुओं के निशान मिले हैं जिसका अनुमान सम्भवतः यह लगाया गया है कि सामने दीप या कोई अग्निकुण्ड प्रज्जवलित होता होगा।

2.6.2 शिव पूजा

शिव प्रमुख देवता थे। साक्ष्यों से इनकी उपासना के संदर्भ मिले हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर त्रिमुखी पुरुष पद्मासन मुद्रा में चौकी पर आसीन है तथा चौकी

EXP-001/EXP-006

के पास गैंडा, भैंसा, हाथी, बाघ तथा सम्मुख एक हिरण की आकृति निर्मित की गई है तथा ऊपर की तरफ 6 अक्षरों का कोई शब्द अंकित है। विद्वानों ने इस पुरुष की पहचान, पशुपति शिव के साथ की है। अन्य प्राप्त साक्ष्यों से भी शिवपूजा के साक्ष्य प्राप्त हुए है।

2.6.3 लिंग तथा योनि पूजा

सिन्धु सभ्यता के स्थलों से लाल तथा नीले चूना पत्थर। चीनी मिट्टी तथा सीप के निर्मित लिंग प्राप्त हुए है तथा पत्थर, चीनी मिट्टी तथा सीप के बने हुए छल्ले मिले है जो छेद के साथ ही पेड़ों, पशुओं तथा नग्न स्त्री आकृति चित्रित है। इन्हें योनि पूजा का प्रतीक स्वीकार किया गया है।

2.6.4 पशु पूजा

सैन्धव सभ्यता में पशु पूजा का भी प्रचलन दिखाई पड़ता है। पशुाओं में कूबड़दार बैल, श्रृंगी वृषभ का अंकन बहुतायत मात्रा में प्रदर्शित होता है तािा साथ ही साथ हाथी, गैंडा, गरुड़ के अंकन भी मुहरों पर प्राप्त होते है। नाग पूजा के साक्ष्य भी लोथल से प्रकाश में आए है।

2.6.5 वृक्ष पूजा

वृक्षों में पीपल, शीशम, बबूल, नीम आदि के साक्ष्य प्राप्त हुए है। मोहनजोदड़ों के एक मुद्रा पर जुड़वा पशुओं के सिर पर पीपल के पत्तों का अंकन किया गया है। पीपल पूजा के अन्य साक्ष्य भी मुहरों व मुद्राओं पर प्राप्त होते है।

2.6.6 जल पूजा व सूर्य पूजा

मोहनजोदड़ों का महास्नानागार जल पूजा का साक्ष्य प्रकट करता है जो धार्मिकता के लक्षणों को प्रकट करता है तथा कुछ मुद्राओं पर सूर्य चिन्ह स्वास्तिक, पहिया प्राप्त होता है जिससे सूर्य पूजा का प्रचलन भी दिखाई पड़ता है।

2.6.7 अंतिम संस्कार

मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, लोथल, कालीबंगा से मृतकों के अंतिम संस्कार के भी प्रमाण मिले हैं। नगरों के बाहर अंतिम संस्कार करने का विधान था तथा मृतकों को अन्त्येष्टि के साथ दफनाया जाता था। अन्त्येष्टि सामग्री के रूप में आभूषण, मृदभाण्ड, उपकरण प्राप्त हुए है। तीन प्रकार के अंतिम संस्कार के प्रमाण मिले है–

1. पूर्ण समाधिकरण
2. आंशिक समाधिकरण

EXP-001/EXP-006

3. दाहकर्म

2.7 आर्थिक स्थिति

साक्ष्यों के आधार पर यह विदित होता है। यह सैन्धव सभ्यता की आर्थिक स्थितियाँ अत्यन्त समृद्ध थी। कृषि पशुपालन तथा शिल्प व व्यापार सैंधव सभ्यता के आर्थिक जीवन के प्रमुख मानक थे।

2.7.1 कृषि

सैन्धव का कृषि मुख्य व्यवसाय था तथा गेहूँ और जौ प्रमुख फसले थी। 9 प्रकार के फसलों के साक्ष्य सैंधव से प्राप्त हुए है जिनमें गेहूँ, जौ, कपास, मटर, खजूर, तिल, धान, सरसों आदि प्रमुख है। कालीबंगा से जूते हुए खेत के साक्ष्य मिले हैं तथा चोलिस्तान व बनावली से हल के प्रमाण प्राप्त हुये है। सैन्धव कालीन लोग गेहूँ की 2 किस्मों ट्रीटीकम कोमपैक्टम एवं ट्रीटीकम स्पैरोकम की प्राप्त हुई है।

2.7.2 पशुपालन

आर्थिक अवस्था का द्वितीय आधार पशुपालन था। बैल, बकरी, गाय, भेड़, भैंस, कुत्ता, ऊँट, सुअर आदि का पशुपालन किया जाता था।

2.7.3 व्यापार एवं वाणिज्य

सैन्धव सभ्यता में व्यापार व वाणिज्य की प्रमुखता थी। सैन्धव सभ्यता में व्यापार मुख्यतः जलमार्गों द्वारा किया जाता था तथा व्यापार जल व थल दोनों मार्गों से किया जाता था। हड़प्पा व मोहनजोदड़ों से कांसे की बैलगाड़ी का साक्ष्य प्राप्त हुआ है। सिन्धु सभ्यता के लोगों का व्यापार मध्य एशिया में दजला फरात, फारस की खाड़ी, मेसोपोटामिया, तुर्कमेनिया से प्राप्त होता है। मेसोपोटामिया के सुमेरीय शासक सारगोन के समय के अभिलेख में सिन्धु प्रदेश को मेलहा कहा गया है। सिन्धुवासी सूती वस्त्र, इमारती लकड़ी, मसाले, हाथी दांत, पशु–पक्षी, मनके आदि का निर्यात करते थे।

2.8 राजनीतिक स्थिति

सैंधव सभ्यता की सांस्कृतिक एकता में एकरूपता के चिन्ह सभी स्थलों से प्रदर्शित होते है। ऐसी एकता बिना किसी केन्द्रीय सत्ता के सम्भव प्रतीत नहीं होती है। कुछ विद्वान सैंधव सभ्यता में जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन मानते हैं कुछ विद्वानों का यह मानना है कि सैंधव सभ्यता में शासन पुरोहित वर्ग के हाथों में था। हड़प्पावासियों का ध्यान शासन में होकर वाणिज्य में अधिक था अतः कुछ विद्वान वणिक वर्ग का शासन मानते हैं परन्तु पर्याप्त स्त्रोतों के अभाव के कारण राजनीतिक अवस्था का

EXP-001/EXP-006

केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता एक परिपक्व सांस्कृतिक पक्षों को प्रदर्शित करती है। सैंधववासियों ने वास्तुकला, मूर्तिकला, नगर नियोजन, भवन नियोजन, महास्नानागार, विशाल अन्नागार जैसे अद्भुत स्मारकों का निर्माण किया। इन लोगों की जल निकासी व्यवस्था समकालीन विश्व की सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था थी। यह एक विशिष्ट सभ्यता व संस्कृ ति के सभी तथ्यों को प्रदर्शित करती है।

2.9 वैदिक युग

वैदिक कालीन संस्कृति भारतीय संस्कृति के इतिहास का अत्यन्त गौरवशाली काल माना जाता है। भारतीय संस्कृति के ज्ञान का प्रमुख स्त्रोत वेद को माना जाता है। वेदों की संख्या चार है जिसमें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद की गणना की जाती है। इन वेदों से वैदिक कालीन संस्कृति का आधारभूत ज्ञान प्राप्त होता है। पूर्व वैदिक कालीन ग्रन्थों में ऋग्वेद की गणना की जाती है जिसका रचना काल 1500—1000 ई0 पू0 है। इस काल में वैदिक संस्कृति का क्रमिक विकास हुआ।

2.9.1 सामाजिक जीवन

इनका सामाजिक जीवन व्यवस्थित और संगठित था। ग्राम प्रधान समाज था जिसकी सबसे छोटी इकाई परिवार मानी जाती है।

2.9.2 परिवार

पूर्व वैदिक कालीन समाज की आधारभूत इकाई कुल/परिवार थी। परिवार पितृसत्तात्मक था अर्थात् परिवार का मुखिया पिता होता था जिसे कुलप अथवा गृहपति की संज्ञा दी गई है। पिता का अधिकार असीमित था तथा संयुक्त परिवार व्यवस्था थी। ऋग्वेद में पुत्री प्राप्ति की कामना नहीं मिलती है परन्तु पुत्री के साथ अच्छा व समानता का व्यवहार किया जाता था।

2.9.3 वर्ण—व्यवस्था

पूर्व वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का कोई विवरण नहीं मिलता है पर पूर्व वैदिक काल दो भागों आर्यों व अनार्यों में विभक्त था। दास व दस्यु के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है। ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र, विश शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के 9वें मण्डल में वर्णित है कि मैं कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य थे, मेरी माता आटा पीसती है। पूर्व वैदिक कालीन समाज में शूद्र शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था मात्र एक बार शूद्र शब्द का विवरण मिलता है—

EXP-001/EXP-006

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

अरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायत्।।

2.9.4 विवाह

पूर्व वैदिक कालीन समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार था जिससे लौकिक और परलौकिक दोनों सुखों की प्राप्ति होती है। बाल विवाह प्रचलित नहीं था। स्त्रियाँ अपने इच्छानुसार वरों का चयन कर सकती थी। पूर्व वैदिक काल में एक पत्नी विवाह का प्रचलन था। समाज में पुनर्विवाह, विधवा विवाह, नियोग प्रथा का प्रचलन था। आजीवन अविवाहित रहने वाली स्त्रियों के लिए अमाजू शब्द का प्रयोग किया गया है।

2.9.5 स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों को सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियाँ सुशिक्षित, सुसभ्य एवं सुसंस्कृत थी। बाल विवाह पर्दा प्रथा, सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। पुत्र के समान ही पुत्रियों का उपनयन संस्कार किये जाने का विवरण प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अपाला, घोषा, विश्वारा आदि उच्च शिक्षित स्त्रियों का विवरण मिलता है। स्त्रियों को सभा और समितियों में भाग लेने का भी अधिकार प्राप्त था। समाज में स्त्रियों को सम्पत्तियों एवं राजनीति में भाग लेने का अधिकार नहीं था।

2.9.6 वस्त्राभूषण

आर्यों की वेशभूषा साधारण थी। इनके वस्त्र अलसी के सूत, ऊन, मृगचर्म से बने थे। लोगों को कपड़ों को काटने, सिलने, बुनने, कपड़ों पर कढ़ाई करने का ज्ञान प्राप्त था। ऋग्वेद में आर्यों के शरीर पर तीन वस्त्र पहनने का विवरण प्राप्त होता है। नीबी, वास, अधिवास, स्त्री व पुरुष दोनों ही आभूषणों को ग्रहण करते थे। इन आभूषणों में कर्ण–शोभन, निष्क, भुजबन्ध, मुद्रिका आदि का विवरण प्राप्त होता है।

2.9.7 भोजन

आर्य मूलतः शाकाहारी थे। मांसाहार का भी प्रचलन था। शाकाहारी भोजन में दूध, दही, घी, पराठा, सब्जी तथा यव, धान्य, उड़द, मूंग दालों का वर्णन प्राप्त होता है तथा येलोग भेड़, बकरली, बैल व जंगली जानवरों का मांस भून कर खाते थे। गाय का मांस ये लोग नहीं खाते थे। गाय पवित्र पशु था इसे अघन्या कहा गया है। इनका प्रिय पेय सोमरस था।

EXP-001/EXP-006

2.9.8 मनोरंजन के साधन

ये लोग रथदौड़, घुड़दौड़, आखेट, नृत्य, गान, संगीत आदि मनोरंजन के साधन थे। पूर्व वैदिक कालीन आर्य वाद्य संगीत में वीणा, दुन्दुभी, मृदंग आदि से परिचित थे।

2.10 आर्थिक स्थिति

आर्थिक जीवन की पृष्ठभूमि ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था थी। कृषि पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था थी। लघु उद्योग व व्यापार वाणिज्य भी महत्वपूर्ण स्त्रोत थे।

2.10.1 कृषि व पशुपालन

कृषि वैदिक काल की प्रमुख विशेषता थी। इसके लिए कृत शब्द का प्रयोग किया गया है। धान्यकृत शब्द का प्रयोग सम्भवतः अन्न उत्पन्न करने वालों के संदर्भ में हुआ है। हल से खेती के लिए भूमि जोतने का विवरण मिलता है। कृषि से सम्बन्धित अर, शृंग, शिप्र, फाल, खनिज आदि कृषि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। पूर्व वैदिक कालीन लोग कृषि कर्म की विभिन्न पद्धतियों जुताई, धुआई, कटाई का विवरण मिलता है। सिंचाई हेतु अवट, कुल्या, लद्ध का प्रयोग किया गया है। कृषि के महत्व के केवल तीन शब्द ऊर्दर, धान्य, वपन्ति प्राप्त होते है। पशुपालन ऋग्वैदिक काल का मुख्य व्यवसाय माना गया है। बैल, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, हाथी, ऊँट, कुत्ता, सुअर, गधा का पालन किया जाता था। गाय को पवित्र माना गया है।

2.10.2 व्यवसाय तथा व्यापार वाणिज्य

पूर्व वैदिक काल में आर्यों का व्यवसाय उन्नत स्थिति में था। वासोवाय हिरण्यकार कुलाल, तक्षा, कमारि, भिषक, वाप्त, चर्मन्न व्यवसायों का वर्णन प्राप्त होता है। इस काल में स्वर्णकारों का व्यवसाय भी उन्नत अवस्था में था। धातुकर्म व्यवसाय भी उन्नत था। ऋग्वैदिक काल में व्यापार–वाणिज्य भी उन्नत स्थिति में था। आंतरिक तथा बाह्य व्यापारों के अवशेष मिलते हैं, व्यापार करने वाले को पणि कहा जाता था। वस्तु विनिमय के माध्यम से व्यापार किया जाता था। निष्क, शतमान, स्वर्ण व हिरण्यपिण्ड मुद्राओं का विवरण मिलता है।

2.11 धार्मिक स्थिति

पूर्व वैदिक कालीन आर्य प्रकृति के सानिध्य में रहते थे। प्राकृतिक घटनाओं ने लोगों में भय और श्रद्धा को जन्म दिया। इसी भय ने धार्मिकता को जन्म दिया। ऋग्वेद में तैंतीस देवताओं का अस्तित्व था। जिन्हें तीन वर्गों में बांटा गया था–

(अ) आकाशवासी – धौंस, सूर्य, वरूण, सविता, अश्विन, पूषन, विष्णु, ऊषा आदि।

EXP-001/EXP-006

(ब) अन्तरिक्षवासी– इन्द्र, रूद्र, पर्जन्य, वायु आदि।

(स) पृथ्वीवासी – अग्नि, पृथ्वी, बृहस्पति, सोम।

ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति पूजक थे। इन्द्र को पुरामभेत्ता, पुरंदर, युद्धों का नेतृत्वकर्त्ता कहा गया है। ये लोग देवताओं को मित्रवत समझते थे तथा जो शक्ति उन्हें प्रभावित करती है उन्हें देवता मानकर उनकी उपासना करते थे। ऋग्वेद से आर्यों के विकास की तीन स्थितियों बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, एकात्मवाद का विवरण प्राप्त होता है।

2.12 राजनीतिक स्थिति

पूर्व वैदिक कालीन समाज में राजनीतिक संगठन का मुख्य आधार कुटुम्ब था इसका प्रमुख कुलप कहलाता था। कई कुलपों से मिलकर ग्राम का निर्माण होता था तथा इसका मुखिया ग्रामणी कहलाता था। कई ग्राम मिलकर विश बनता तथा इसका अधिकारी विशपति होता था। कई विशों से एक जन बनता था जिसका मुखिया गोप्ता कहलाता था। कई जन राष्ट्र का निर्माण करते थे जिसका प्रमुख राजा होता था।

2.12.1 प्रशासनिक व्यवस्था

पूर्व वैदिक कालीन शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी जिसका अध्यक्ष राजा कहलाता था। ऋग्वेद में कुटुम्ब, ग्राम, विश, जन, राष्ट्र जैसी इकाईयों का विवरण उपलब्ध होता है। जिसमें कुटुम्ब सबसे छोटी व राष्ट्र सबसे बड़ी इकाई थी। राज्य पर नियंत्रण सभा, समिति व विदय द्वारा किया जाता था।

2.12.1.1 राजा

राजा राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासनिक, प्रधान न्यायाधीश, सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजा के लिए ऋग्वेद में गोप जन्सय शब्द का प्रयोग किया गया है। राजा का चुनाव आम जनता द्वारा किया जाता था परन्तु बाद में राजा का पद वंशानुगत हो गया। राजा पर सभा और समिति नियंत्रण रखती थी।

2.12.1.2 पुरोहित

पुराहित राजा को धार्मिक, न्यायिक, प्रशासनिक, राजनीतिक विषयों पर सलाह देने का कार्य करता था।

2.12.1.3 सेनापति

राज्य की सेना का प्रमुख सेनापति कहा जाता है जो युद्ध के समय सेना के संचालन का कार्य व्यवस्था तथा सेना के नियंत्रण का कार्य करता था।

EXP-001/EXP-006

2.12.1.4 सभा और समिति

राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राजा पर नियंत्रण और राजा को सलाह देने का कार्य सभा, समिति और विदथ द्वारा किया जाता था। सभा उच्च सदन के रूप में कार्य करता था जो श्रेष्ठ जनों की संस्था थी इसके विपरीत समिति सारी प्रजा की संस्था थी जिसमें सभी समान रूप से उपस्थित होते थे।

2.12.1.5 विदथ

विदथ एक जन्मदात्री संस्था थी जिससे सभा, समिति और सेना की उत्पत्ति मानी जाती है। कुछ विद्वान इसे समिति की ही एक छोटी संस्था मानते है।

2.13 उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति

इस काल के अंतर्गत यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, अरण्यकों, उपनिषदों एवं महाकाव्यों की रचना हुई। इसका काल 1000–600 ई0 पू0 तक माना जाता है। उत्तर वैदिक काल में आर्य सामाजिक जनजीवन, संस्कृति, राजनीति में परिवर्तन व प्रगति के चरण स्पष्टतः परिलक्षित होते है। उत्तर वैदिक काल में हुए लौह तकनीक के विकास ने भी अपना विशिष्ट योगदान दिया।

2.13.1 सामाजिक व्यवस्था

पूर्व वैदिक काल के अपेक्षा वैदिक काल में सामाजिक जीवन में भारी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट होते है। वर्ण व्यवस्था का आरम्भ हुआ, आश्रम व्यवस्था की स्थापना हुई तथा स्त्री व शिक्षा में भी परिवर्तन हुआ।

2.13.2 वर्ण व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था समाज में पूरी तरह से स्थापित हो चुकी थी। वर्ण का आधार जन्म पर आधारित था। शतपथ ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए चार पृथक–पृथक स्थानों का वर्णन अंतिम संस्कार के लिए प्राप्त होता है। ब्राह्मण वर्ण को अध्ययन–अध्यापन व धार्मिक क्रियाकलापों को करने का अधिकार प्राप्त था तथा क्षत्रिय वर्ण को राजा का कार्य व प्रजा को सुरक्षा प्रदान करने का दायित्व प्राप्त था। वैश्य को कृषि, पशुपालन एवं व्यवसाय तथा व्यापार का अधिकार था तथा शूद्रों को समाज की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था।

2.13.3 आश्रम व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में ही समाज में आश्रम अवस्था का अस्तित्व आया। भारतीय

EXP-001/EXP-006

आश्रम व्यवस्था विश्व के सामाजिक इतिहास एवं संस्कृति के लिए अद्‌भुत व अभूतपूर्व कृति है। आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति के जीवन का वैज्ञानिक विभाजन कर जीवन के प्रत्येक भाग का समुचित व सुनियोजित उपयोग निहित है। भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के 100 वर्षों के जीवन काल को 25–25 वर्षों में कर चार भागों अथवा चार आश्रमों में विभक्त किया। ब्रह्मचर्य अवस्था जिसकी सामान्य आयु सीमा जन्म से 25 वर्ष तक तथा गृहस्थ आश्रम व्यवस्था 25 से 50 वर्ष तक तथा वानप्रस्थ 50 से 75 तक व सन्यास आश्रम की अवस्था 75 से 100 वर्षों तक स्वीकार की गई है।

2.13.4 परिवार

उत्तर वैदिक काल में समाज में परिवार पितृ प्रधान था। उत्तर वैदिक काल में पिता के अधिकारों में वृद्धि हुई। पुत्र पिता के सम्पत्ति का अधिकारी होता था। परिवार में सभी लोग मिल–जुल कर रहते थे। उत्तर वैदिक कालीन समाज मूलतः ग्राम प्रधान था।

2.13.4 विवाह

उत्तर वैदिक काल में विवाह एक पवित्र संस्कार था तथा विवाह के आठ प्रकारों में ब्रह्म विवाह, दैव विवाह, आर्य विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गंधर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह का वर्णन उत्तर वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। समाज में एकपत्नी प्रथा का प्रचलन था परन्तु बहुर्विवाह के भी उदाहरण समाज में दिखाई देता है।

2.13.5 मनोरंजन के साधन

रथदौड़, घुड़दौड़, आखेट, नृत्य, गान, संगीत आदि आर्यों के मनोरंजन के साधन थे। उत्तर वैदिक काल में नाटकों के प्रसार में वृद्धि दिखलाई पड़ता है।

2.13.5 खानपान

आर्य मूलतः शाकाहारी थे। उत्तर वैदिक काल में आर्य शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन किया करते थे। शाकाहारी भोजन में दूध, दही, मक्खन, घी, शहद, गुड़, चीनी, खीर, फल, सब्जियों आदि का प्रयोग किया जाता था तथा इनका प्रिय पेय पदार्थ सोमरस था।

EXP-001/EXP-006

2.13.6 शिक्षा

उत्तर वैदिक काल में लेखन कला का अस्तित्व प्रदर्शित होने लगा। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा राज्य का दायित्व न होकर गुरुकुलों, गुरुग्रहों का कार्य शिक्षा पर सभी वर्णों तथा स्त्री और पुरुषों दोनों का समान रूप से अधिकार था।

2.13.7 आर्थिक अवस्था

उत्तर वैदिक काल में कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था थी तथा लघु उद्योग एवं व्यापार वाणिज्य ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2.13.8 कृषि एवं पशुपालन

उत्तर वैदिक काल में कृषि प्रमुख व्यवसाय बन गया। लौह तकनीक के विकास ने कृषि एवं अन्य कार्यों में सहायता प्रदान की। गेहूँ, जौ, चावल, उड़द, मूंग, तिल, गन्ना आदि की फसल होती थी। शतपथ ब्राह्मण में हल से किये गये अनुष्ठान का विवरण प्राप्त होता है। पशपुालन भी उन्नत अवस्था में था। भेड़, बकरी, घोड़ा, हाथी, ऊँट, कुत्ता, सुअर आदि का पालन किया जाता था।

2.13.9 लघु उद्योग

उत्तर वैदिक काल में वस्त्र बुनने वाले, काटने वाले, सिलने वाले, वस्त्रों की कढ़ाई करने वाले, वैद्य, कुम्हार, बढ़ई चर्मकार, नाई, धोबी, धनुषकार आदि व्यवसायों का विवरण प्राप्त होता है। उत्तर का वैदिक काल में सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, रांगा, टीन, पीतल, लोहे के उपयोग का वर्णन मिलता है। धातु शोधन का भी ज्ञान इन्हें था।

2.13.10 व्यापार वाणिज्य

उत्तर वैदिक काल में आर्थिक जीवन में आंतरिक व वैदेशिक व्यापार का वर्णन मिलता है। वाजसेनयी संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण आदि में वणिज शब्द का प्रयोग व्यापारी के अर्थ में हुआ है। व्यापार में विनिमय का माध्यम वस्तु विनिमय और गाय प्रमुख थी। निष्क, शतमान जैसी मुद्रा इकाईयों से व्यवसाय में उन्नति हुई। उत्तर वैदिक काल में ग्रन्थों में तौल की इकाईयाँ कृष्णल, रक्तिका, गुंजा, पाद का उल्लेख प्रदर्शित होता है।

2.13.11 धार्मिक अवस्था

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक स्थिति में भी अत्यधिक परिवर्तन हुआ। यज्ञों एवं अनुष्ठानों के महत्व में वृद्धि हुई। अश्वमेध, राजसूय, सोमयज्ञ, वाजपेय, अग्निष्टोम, पुरुषमेध यज्ञों का अभिन्न अंग बन चुका था। उत्तर वैदिक काल में ब्रह्म आत्मा ज्ञान मुक्ति, मोक्ष की अवधारणा स्थापित हुई। उत्तर वैदिक काल में प्रजापति सर्वोच्च देवता तथा रूद्र एवं विष्णु प्रमुख देवता के रूप में प्रचलित हुए।

2.13.12 राजनीतिक अवस्था

उत्तर वैदिक काल में साम्राज्यवाद का विकास हुआ। इन्हें लौह तकनीक और अश्वचालित रथ का ज्ञान था। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज,

EXP-001/EXP-006

साम्राज्य का वर्णन प्राप्त होता है। मध्य देश के राजा 'राजा', पूर्व के राजा 'सम्राट', दक्षिण के भोज, पश्चिम के 'स्वराट्' और उत्तरी जनपदों के शासक 'विराट' कहे जाते थे। राज्याभिषेक के समय रत्निनों की अनुमति ली जाती थी तथा राजा के पदाधिकारी रत्निन कहे जाते थे। इन रत्निनों सेनानी, पुरोहित, ग्रामणी, युवराज, महिषी, सूत्र, अक्षवाप, पालागल, संग्रहित, भागदध आदि थे। प्रांतीय शासन की व्यवस्था का आरम्भ स्थापित और शतपति के वर्णन से किया जाता था।

2.13.13 सभा और समिति

अथर्ववेद में सभा व समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। राजा सभा और समिति के अनुमति के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता था।

2.13.14 न्याय व्यवस्था

राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। रथपति न्यायाधीश होता था। हत्या का दण्ड गाय देकर चुकाया जाता था।

वैदिक कालीन संस्कृति भारतीय मनीषियों की उत्तम देन है। उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति में जटिल और परिपक्व प्रणाली का विकास हुआ। समाज में वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा धर्म में दार्शनिक एवं बौद्धिक चिंतनशील विचारधारा और यज्ञों तथा अनुष्ठानों का विकास हुआ।

2.14 बौद्ध संस्कृति का ऐतिहासिक तत्व

छठी शताब्दी ई0पू0 तक गंगा घाटी में बौद्ध वर्ग का विकास हुआ। लौह के विकास ने युद्ध एवं कृषि कार्य में भूमिका निभाई। कृषियुक्त अर्थव्यवस्था ने वैदिक यज्ञ में पशुबलि का घोर विरोध प्रारम्भ हुआ। बौद्ध संस्कृति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अमूल छवि छोड़ी।

महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई0पू0 में कपिलवस्तु के लुम्बिनी में हुआ। अशोक ने लुम्बिनी गाँव में एक प्रस्तर स्तम्भ स्थापित करवाया। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोधन तथा माता का नाम मायादेवी था। माता की मृत्यु के बाद बुद्ध का पालन पोषण गौतमी प्रजापति द्वारा किया गया। इनका विवाह रामग्राम के कोलिय गणराज्य की राजकुमारी यशोधरा के साथ सम्पन्न हुआ। कुछ समय के बाद बुद्ध की प्रकृति चिंतनशील हो गई। इनकी इस प्रवृत्ति में वृद्धि का कारण कुछ प्रमुख घटनायें– वृद्ध पुरुष, दुःखी रोगी, मृत शरीर, संयासी इन चार दृश्यों से उन्हें संसार के विपरीत विरक्ति पैदा हुई। 29 वर्ष की

EXP-001/EXP-006

आयु में इन्होंने गृह त्याग किया। यह घटना महाभिनिष्क्रमण कहलाई। महात्मा बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति निरंजना नदी के तट पर उरुबेला नामक स्थान पर हुई। आलारकालाम तथा उद्रक रामपुत्त इनके गुरु थे। महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम सारनाथस में अपना पहला उपदेश दिया। यह घटना धर्मचक्र प्रवर्तन कहलाती है। 80 वर्ष की अवस्था तक बुद्ध धर्म का प्रचार करते रहे। पावा में उनके शिष्य ने भोजन में सुकर मांस का भोजन दिया जिसके कारण उन्हें अतिसार रोग हो गया और 483 ई0पू0 में वैशाख पूर्णिमा के दिन कुशीनगर में शालवृक्ष के नीचे उनकी मृत्यु हो गई यह घटना महापरिनिर्वाण कही जाती है।

2.14.1 बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

बौद्ध धर्म ने विश्व के कल्याण में अपना विशिष्ट योगदान दिया। गौतम बुद्ध के उपदेश सभी जनों के हितों व सुखों से सम्बद्ध थे। बुद्ध ने अपने उपदेशों में मध्यम मार्ग और चार आर्य सत्यों का अनुसरण करने का सुझाव दिया है।

चार आर्य सत्य–

बौद्ध धर्म की आधार शिला चार आर्यसत्य है। किसी न किसी प्रकार से यह चारों आर्य सत्य बौद्ध धर्म के अंतर्गत सम्मिलित हैं। ये चार आर्य सत्य है–

(अ) दुःख–

महात्मा बुद्ध के अनुसार सम्पूर्ण जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक दुःख ही दुःख है।

(ब) दुःख समुदाय–

महात्मा बुद्ध ने सभी दुःखों का कारण तृष्णा बताया है। तृष्णा में फंसे मानव को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

(स) दुःख निरोध–

इसका तात्पर्य तृष्णाओं से मुक्ति प्राप्त करना है।

(द) दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा–

ऐसे मार्गों का अनुसरण जिससे समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है। बुद्ध ने इसके लिए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने का सुझाव प्रस्तुत किया है।

अष्टांगिक मार्ग–

बुद्ध ने ज्ञान और मुक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए

EXP-001/EXP-006

अष्टांगिक मार्ग का निर्माण किया। अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग है–

1. सम्यक दृष्टि
2. सम्यक संकल्प
3. सम्यक वाणी
4. सम्यक कर्मान्त
5. सम्यक आजीव
6. सम्यक व्यायाम
7. सम्यक स्मृति
8. सम्यक समाधि

मध्यम प्रतिपदा–

इससे तात्पर्य मध्यम मार्ग से है। बुद्ध के अनुसार मुक्ति और निर्वाण के लिए व्यक्ति के शरीर को अत्यधिक कष्ट या अत्यन्त भोग विलास की आवश्यकता नहीं होती है। व्यक्ति को मुक्ति और निर्वाण के लिए बीच के मार्ग का चयन करने का सुझाव दिया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद–

प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत के अंतर्गत कारणवाद या कार्य कारण की धारणा निहित है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है ऐसा होने से ऐसा होगा अर्थात् प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कुछ भी सम्भव नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध के दार्शनिकों के गहन अनुभवों एवं चिंतन का प्रतिफल है।

दस शील और आचरण–

दार्शनिकों ने ज्ञान और मुक्ति के मार्ग को प्राप्त करने के लिए दस शील का अनुसरण करने का सुझाव दिया है। ये दस शील है–

1. अहिंसा
2. सत्य
3. अस्तेय
4. अपरिगृह
5. ब्रह्मचर्य

EXP-001/EXP-006

6. दुराचरण का त्याग
7. मादक वस्तुओं का त्याग
8. विलासिता का त्याग
9. असमय भोजन का त्याग
10. कामिनी कंचन का त्याग।

क्षणिकवाद–

बुद्ध ने संसार को क्षण भंगुर माना है। संसार की सभी वस्तुऐ क्षणिक और सदैव परिवर्तनशील है। क्षणिकवाद सिद्धांत महात्मा बुद्ध का संसार के विषय में दार्शनिक चिंतन है। जिसके अनुसार संसार और संसार की प्रत्येक वस्तु का विनाश निश्चित है।

अनीश्वरवाद

बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता है। सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं माना गया है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से माना गया है तथा सृष्टि का उत्तीन और पतन प्राकृतिक नियमों के अनुसार माना है।

अनात्मवाद

बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता है। शरीर का निर्माण पृथक–पृथक प्रकार के विविध तत्वों से हुआ तथा मृत्यु के पश्चात् सभी तत्व प्रकृति में विलीन हो जाते है। बुद्ध ने आत्मा विषय पर चर्चा को निरर्थक माना है तथा बौद्ध धर्म एक मात्र ऐसा धर्म है जिसमें न कोई देवता है और न कोई आत्मा।

कर्म एवं पुनर्जन्म

बुद्ध ने बौद्ध धर्म का कर्म प्रधान बनाने के लिए कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है और मनुष्य के कर्म के अनुसार ही उसे सुख और दुःख की प्राप्ति होती है तथा मनुष्य के कर्मानुसार ही मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके अतीत के कर्मों का साकार रूप को प्रस्तुत करता है।

वेद, कर्मकाण्ड एवं जाति में अविश्वास–

महात्मा बुद्ध ने ब्रह्मण धर्म के ग्रन्थों वेद, वैदिक कर्मकाण्डों, जाति व्यवस्था पर प्रहार किया और वेदों प्रमाणिकता को अस्वीकार किया। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया।

EXP-001/EXP-006

महायान सम्प्रदाय–

बौद्ध धर्मावलंबियों की बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा की भावना में महायान सम्प्रदाय को जन्म दिया। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने महात्मा बुद्ध को ईश्वर के तुल्य माना और उनकी पूजा अर्चना प्रारम्भ की। महायान सम्प्रदाय के लोगों ने बुद्ध को देवरूप दिया। विद्वान इसे बौद्ध धर्म का विकृत रूप भी स्वीकार करते है। महायान के द्वार सभी लोगों के लिए खुले थे। महायान बौद्ध धर्म का उदय प्रथम शताब्दी ई0 पू0 में हुआ। कनिष्क ने चतुर्थ बौद्ध संगिति में महायान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई तथा योगाचार एवं माध्यमिक या सापेक्षवाद महायान सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध मत थे।

हीनयान सम्प्रदाय

हीनयान सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म का मूल माना जाता है। प्राचीन मूल बौद्ध धर्म का पालन हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय में निहित था। हीनयान को 'श्रावकयाण' भी कहा जाता है। श्रावक जीवन के क्लेश से त्रस्त होकर निर्वाण के पथ पर अग्रसर होना है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक हीनयान सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध मत है।

वज्रयान सम्प्रदाय

यह बौद्ध धर्म का तांत्रिक सम्प्रदाय था। इसका उदय पांचवी–छठी शताब्दी ई0 में हुआ था। इस सम्प्रदाय के अंतर्गत तन्त्र–मन्त्र द्वारा ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है।

2.15 गुप्त संस्कृति के ऐतिहासिक तत्व

भारतीय संस्कृति के उत्थान का गौरवशाली व प्रतिष्ठित काल गुप्त काल को माना जाता है। गुप्त शासकों का काल 275 ई0 से 550 ई0 तक माना जाता है। गुप्तों के उदार शासकों ने गुप्त काल के प्रगति के सभी द्वार खोले। साहित्य और कला के क्षेत्र में गुप्त काल में सर्वाधिक विकास हुआ। गुप्तकाल के सांस्कृतिक उत्थान के सभी चरणों ने गुप्तकाल को भारतीय संस्कृति का स्वर्णकाल बनने में विशेष भूमिका निभायी।

सामाजिक अवस्था

गुप्त काल से पूर्व भारत में जो वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था थी। वह गुप्त काल में वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। गुप्त काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्म पर आश्रित हो गया।

EXP-001/EXP-006

वर्ण–व्यवस्था

गुप्त काल में वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का कार्य राजा द्वारा किया जाता था। समाज के चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को किसी भी प्रकार से वर्णाश्रम का खण्डन करने पर रोक लगाने का दायित्व भी राजा के पास था परन्तु गुप्तकालीन वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में शूद्रों के जीवन में कुछ सकारात्मक परिवर्तन हुए। वाराहामिहिरे के वृहत्संहिता में चारों वर्णों के लिए चार अलग–अलग बस्तियों का विधान मिलता है। ब्राह्मण की परीक्षा तुला से क्षत्रिय की अग्नि से वैश्य की जल से तथा शूद्र की विष से लेने का विधान था। गुप्त काल में शूद्रों की सम्पत्ति में वृद्धि हुई। शूद्र के मृच्छकटिकम में वर्णित है कि ब्राह्मण और शूद्र एक ही कुऐं का पानी भरते थे। ह्वेनसांग सिन्ध एवं मतिपुर के शासकों को शूद्र वर्ण का बताते है। गुप्तकालीन ग्रन्थों अमरकोष, याज्ञवलेक्य स्मृति, नृसिंह पुराण, वृहस्पति स्मृति से ज्ञात होता है कि शूद्र केवल उच्च वर्णों के सेवक मात्र ही नहीं थे अपितु ये शूद्र, कृषक, व्यापारी, शिल्पी आदि कार्यों में भी संलग्न थे। गुप्त काल में शूद्रों को दान–पुण्य, भक्ति व यज्ञ आदि करने का भी अधिकार प्राप्त था। गुप्त काल में कायस्थ नामक एक नये वर्ग का निर्माण हुआ जिसका कार्य लेखन, लेखाकरण, गणना आदि से सम्बन्धित था। गुप्तकाल में अनुलोम–प्रतिलोम विवाह के भी उदाहरण प्राप्त होते है।

स्त्रियों की स्थिति

गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी। कुमारसम्भव ग्रन्थ में कन्या को कुल का प्राण कहा गया है। अमरकोष में स्त्रियों के शिक्षिका होने का विवरण मिलता है। कालिदास तथा अजंता की गुफाओं से नारी साज–सज्जा व प्रसाधनों का विवरण प्राप्त होता है। गुप्तकाल से गणिकाओं और देवदासियों का भी विवरण मिलता है। सती प्रथा के विवरण भी गुप्तकाल के साहित्यिक और पुरातात्विक स्त्रोतों से प्राप्त होता है। समाज में पुनर्विवाह, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, अंतर्जातीय विवाह, अनुलोम–प्रतिलोम विाह का भी विवरण मिलता है। नारद एवं पराशर स्मृति से विधवा विवाह का साक्ष्य प्राप्त होता है। गुप्त काल में स्त्रियाँ शिक्षित थी और पूर्ववर्ती कालों की तुलना में इनकी स्थिति अच्छी व संतोषजनक थी।

दास प्रथा

गुप्तकाल में दास प्रथा विद्यमान थी। कात्यायन, नारद, याज्ञवलक्य स्मृति से दास प्रथा का विवररण प्राप्त होता है। दास सामान्यतः नीचे की जाति का व्यक्ति होता था। दास व दासियों का आयात–निर्यात किया जाता था। स्मृतिकार नारद ने 15 प्रकार के

EXP-001/EXP-006

दासों का वर्णन किया है।

आर्थिक स्थिति

गुप्त काल में आर्थिक अवस्था भी प्रगतिशील व उन्नत अवस्था में थी। गुप्तकालीन जन जीवन में भी आर्थिक प्रगति हुई।

कृषि–

गुप्तकालीन जनता कृषि पर आधारित थी। गुप्तकाल में जौ, गेहूँ, चावल, सरसों, अदरक, सब्जियाँ, गन्ना आदि का विवरण प्राप्त होता है। वराहमिहिर के वृहत्संहिता में रबी, खरीफ आदि फसले उगाये जाने का विवरण प्राप्त होता है। आम, केला, नारियल, कटहल, काली मिर्च, चंदन, कपूर आदि की खेती की जाती थी। कृषि से सम्बन्धित भाग, भोग, उद्रंग, उपरिकर आदि का विवरण प्राप्त होता है। भूमि की माप के लिए पाटक, नड़, कुल्यावाप, द्रोणवापे, आढ़वाप आदि इकाईयाँ प्रचलित थी। सिंचाई के साधनों में अरघट्ट का वर्णन प्राप्त होता है। सिंचाई के लिए वर्षा, तालाब, कुआँ, नदियों व झीलों का प्रयोग किया जाता था।

उद्योग–धन्धे, व्यापार–वाणिज्य–

गुप्तकाल में उद्योग–धंधे, व्यापार–वाणिज्य उन्नत अवस्था में थी। इस काल में वस्त्र व्यवसाय, हाथी दांत के व्यवसाय, शिक्षण व सैन्य व्यवसाय, उद्यान कार्य, शिकार, नृत्य, गायन व्यवसाय, पाषाण कला व्यवसाय, चित्रकला, मूर्तिकारी, जहाज निर्माण आदि धन्धों व व्यवसायों ने गुप्तकाल को उन्नत बनाया। आभूषण निर्माण कला अत्यन्त विकसित था। वृहत्संहिता में 24 प्रकार के आभूषणों का विवरण प्राप्त होता है। गुप्तकाल में व्यापार व वाणिज्य जल व थल दोनों के द्वारा होता था। इस काल में ताम्रलिप्ति प्रमुख बंदरगाह था। विदेशी देशों चीन, लंका, कम्बोडिया, जावा, वमार्द्ध, सुमात्रा, अरब व फारस से व्यापार होता था। चीनी यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग भारत और चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का विवरण प्रस्तुत करते है। गुप्तकाल में केसर, चंदन, नारियल, नील, कस्तूरी, हाथी दांत की वस्तुऐ, बहुमूल्य पत्थरों का निर्यात व विभिन्न प्रकार के शराब, टिन, शीशा, मूंगा, कांच, दास व दासियों का आयात किया जाता था।

श्रेणी–

गुप्तकाल की अर्थव्यवस्था में व्यवसायिक संगठनों के रूप में श्रेणियों की विशिष्ट भूमिका थी। श्रेणियाँ, व्यवसाय करने वाले व्यावसायिक संगठन था। व्यापारिक संस्थाओं को कुल, पूग, निकाय, जाति, व्रात, संघ, समुदाय, समूह, वर्ग, गण, नियम, श्रेणी आदि

EXP-001/EXP-006

कहा गया है। नारद ने व्यावसायियों की संस्था को श्रेणी कहा है तथा पाणिनी याज्ञवलक्य, मिताक्षरा ने इस संस्था को पूग कहा है। श्रेणियाँ अपनी मुद्राएं चलाती थी तथा बैंक के रूप में कार्यों का संचालन करती थी। प्रत्येक श्रेणी की अपनी मुहर होती थी। वैशाली से कुल 274 मुद्राएँ मिलती है। गूढ़वा अभिलेख में गुप्त शासक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने श्रेणियों के पास धर्म कार्य से सम्बन्धित धन जमा करवाया। श्रेणियों को वैधानिक और न्यायिक अधिकार प्राप्त था। दुर्भिक्ष में पीड़ितों की रक्षा करना इनका कर्त्तव्य था। श्रेणियों ने सूर्य का एक भव्य मंदिर भी बनवाया। इसकी सूचना मंदसौर अभिलेख से भी ज्ञात होती है।

मुद्रा–

गुप्त साम्राज्य में विकसित मुद्रा प्रणाली ने आर्थिक प्रगति प्रदान की। मुद्रा एवं टकसाल विभाग का विवरण भी प्राप्त होता है। सोने, चांदी, ताँबे की मुद्राओं का प्रचलन प्राप्त होता है। गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं को दीनार तथा चांदी के सिक्के कपक कहे गए।

धार्मिक स्थिति–

विविध धार्मिक सम्प्रदायों का विकास गुप्तकाल की विशिष्ट धार्मिक विशेषता है। गुप्तकाल में वैदिक धर्म नये धार्मिक विचारों व पद्धतियों के साथ विकसित हुआ। वैष्णव धर्म, शैव धर्म, बौद्ध, जैन धर्म का विकास हुआ।

वैदिक धर्म–

गुप्तकालीन शासकों ने वैदिक धर्म, यज्ञिक कर्मकाण्डों को अपनी संरक्षण प्रदान किया। गुप्त शासकों ने वैदिक यज्ञों, अश्वमेध यज्ञ, वाजसनेयी यज्ञ, अग्निष्टोम यज्ञ आदि को अपना संरक्षण दिया। सूर्य उपासना के भी विवरण गुप्त काल में प्राप्त होते है।

वैष्णव धर्म–

गुप्तशासक वैष्णव धर्मानुयायी थे। वैष्णव धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। शासक परम भागवत की उपाधि धारण करते थे। गुप्त साम्राज्य का राजकीय चिन्ह भगवान विष्णु का वाहन गरूड़ था। सिक्कों पर भी लक्ष्मी व गरुड़ का अंकन प्राप्त होता है। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख, उदयगिरि गुहा लेख, बुद्धगुप्त कालीन दामोदरपुर अभिलेख से विष्णु के वराह अवतार का वर्णन प्राप्त होता है। वैष्णव धर्म का सर्वोत्तर उदाहरण देवगढ़ का दशावतार मंदिर को कहा जाता है।

EXP-001/EXP-006

शैव धर्म–

गुप्त शासक शैव धर्म के भी उपासक थे। गुप्त शासकों ने शैव धर्म से सम्बन्धित मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण करवाया। गुप्त शासकों कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त के नाम शिव के पुत्र कार्तिकेय पर आधारित थे। गुप्त शासकों ने शैव धर्म से सम्बन्धित मयूर व वृषभ का अंकन वाले सिक्कों का प्रचलन करवाया तथा शैव धर्म से सम्बन्धित नचना कुहारा का पार्वती मंदिर, भूमरा का शिव मंदिरों का निर्माण करवाया। गुप्त काल में शिव व पार्वती की संयुक्त मूर्तियाँ अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियाँ बनी। शिव व विष्णु की संयुक्त मूर्तियाँ हरिहर की मूर्तियाँ बनी तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश की मूर्तियाँ स्थापित हुई।

बौद्ध धर्म–

समाज का एक बड़ा वर्ग बौद्ध धर्म का अनुयायी था। समुद्रगुप्त के समय श्रीलंका के शासक मेघवर्मन ने बोधगया में बौद्ध यात्रियों के लिए विहार बनवाया। कश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। पाटलिपुत्र, मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ भी बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। कुमारगुप्त ने नालन्दा में प्रसिद्ध बौद्ध विहार का निर्माण करवाया।

जैन धर्म–

गुप्तकाल में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था। गुप्तकालीन शासकों ने जैन धर्म को राजकीय संरक्षण दिया। मथुरा व बल्लभी जैन धर्म के केन्द्र थे। कुमारगुप्त प्रथम के उदयगिरि अभिलेख, मथुरा के अभिलेख से जैन धर्म का विवरण प्राप्त होता हैं। स्कंदगुप्त के कहौम अभिलेख से तीर्थंकर मूर्तियों के निर्माण के साक्ष्य प्राप्त होते है। गुप्तकाल में भी जैन धर्म में उन्नति हुई और इन्हें लोगों का संरक्षण प्राप्त हुआ।

गुप्तकालीन कला–

गुप्तकाल में भारतीय कला की विशेष उन्नति एवं प्रगति हुई। साहित्य कला, विज्ञान में इस काल में अभूतपूर्व प्रगति हुई।

गुहा स्थापत्य कला

गुप्त काल में अजंता, बाघ, उदयगिरि से गुहा स्थापत्य कला के उदाहरण प्राप्त होते है। अजंतो जो महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में है, से गुहा स्थापत्य की जानकारी प्राप्त होती है। गुहा संख्या 16, 17, 19 गुप्त काल के है। ये गुफाऐं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है तथा महात्मा बुद्ध व उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का चित्रण अजंता की गुफाओं से प्राप्त होता है। गुफा स्थापत्य का एक अन्य उदाहरण मध्य प्रदेश के विदिशा नगर के उदयगिरि से प्राप्त होता है। यहाँ से भगवान विष्णु के अवतारों का

EXP-001/EXP-006

चित्रण प्राप्त होता है। बाघ की गुफा मध्य प्रदेश के धार जिले में है जो गुप्तकालीन गुहास्थापत्य को चित्रित करती है। इस गुफा से लौकिक जगत से सम्बन्धित दृश्यों को चित्रित किया गया है। इस गुफा की खोज डेन्जर फील्ड ने 1818 ई0 में की।

गुप्त काल में सारनाथ तथा मीरपुर खास से स्तूपों के साक्ष्य प्राप्त होते है। सारनाथ का धमेख स्तूप बौद्ध धर्म का प्रमुख स्तूप है।

मंदिर स्थापत्य कला

गुप्तकाल में मंदिर स्थापत्य कला में अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्तकालीन मंदिरों में आधी सोपान, शिखर, गर्भगृह, मण्डप, प्रदक्षिणापथ, वास्तु अंगों का मंदिरों में निर्माण हुआ। मंदिर स्थापत्य की नागर शैली में मंदिरों का निर्माण हुआ। स्थापत्य अंगों में सपाट छत, वर्गाकार गर्भगृह, स्तम्भों पर आश्रित मण्डपों का निर्माण हुआ। देवगढ़ का दशावतार मंदिर गुप्तकाल की मंदिर स्थापत्य कला का महत्वपूर्ण साक्ष्य है। सर्वप्रथम शिखर का निर्माण इसी मंदिर में हुआ। मंदिर के गर्भगृह के बाहरी दीवारों पर गजेन्द्रमोक्ष है। शेरशाही विष्णु, नर नारायण का अंकन किया गया है तथा द्वार शीर्ष पर गंगा और यमुना का अंकन किया गया है। मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले का तिगवा का मंदिर गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह मंदिर भगवान विष्णु को समर्पित है। गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य का एक अन्य उदाहरण नचना कुठारा का पार्वती मंदिर है तथा भ्रमरा का शिव मंदिर, सतना मध्यप्रदेश में स्थित एक प्रमुख गुप्तकालीन शिव मंदिर है। भीतरगाँव का मंदिर, कानपुर, उत्तर प्रदेश में विष्णु का एक प्रमुख मंदिर है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला–

गुप्तकाल में कला का उत्कृष्ट शिल्प के साक्ष्य प्रदर्शित होते है। मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र, सारनाथ, कौशाम्बी तथा मथुरा थे। गुप्तकालीन शासकों ने वैष्णव धर्म का अनुयायी होने के कारण वैष्णव धर्म को पर्याप्त संरक्षण दिया। विष्णु व विष्णु से सम्बन्धित अवतारों का अंकन किया तथा शिव से सम्बन्धित प्रतिमाओं का अंकन तथा शाक्त धर्म की मूर्तियों का अंकन गुप्तकाल में किया गया। सारनाथ बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। मथुरा से जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ गुप्तकाल से प्राप्त हुई है।

गुप्तकाल भारतीय संस्कृति के इतिहास का गौरवशाली व स्वर्णिम साक्ष्य प्रस्तुत करता है। 275 ई0 से 550 ई0 तक के काल में चतुर्दिक विकास हुआ। गुप्तकाल में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सहिष्णुता, धार्मिक सम्प्रदाय के विकास, साहित्य कला, विज्ञान के प्रगति व विकास का काल था। गुप्त काल सांस्कृतिक उत्थान व प्रगति का स्वर्णकाल कहा जाता है।

EXP-001/EXP-006

2.16 सारांश

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति विशिष्ट है। वैश्विक संस्कृतियों में प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति का आदरपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद में वर्णित हैं कि 'सा संस्कृति प्रथम विश्ववारा' अर्थात् आदि संस्कृति विश्व के कल्याण के लिये थी। भारतीय संस्कृति विश्व के कल्याण के लिये थी। भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास क्रम एक विशिष्ट एवं व्यापक सन्दर्भ में प्राप्त होता है। प्राचीन काल से लेकर बाद के कालों तक भारतीय संस्कृति में निरन्तरता एवं स्थायित्व का भाव दृष्टिगत होता है। अपनी इन्हीं विशिष्टताओं एवं विविधताओं के कारण यह विश्व में अद्वितीय एवं अनुपम है।

2.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दूबे, एच. एन., भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2018
2. श्रीवास्तव, के. सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, 2021–22

2.18 बोध प्रश्न

1. भारतीय संस्कृति के विविध आयामों का वर्णन कीजिए।
2. ऐतिहासिक विकास क्रम के कालगत विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

EXP-001/EXP-006

इकाई 3–संस्कृति का संरक्षणः पर्यटन की संस्कृति बनाम संस्कृति का पर्यटन

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्‌देश्य

3.3 संस्कृति का संरक्षण

3.4 पर्यटन की संस्कृति बनाम संस्कृति का पर्यटन

3.5 सारांश

3.6 निबन्धात्मक प्रश्न

3.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

3.1 प्रस्तावना

विभिन्न प्रकार के विविधता से परिपूर्ण भारतीय भू–भाग की सांस्कृतिक समृद्धता विश्व के अन्य भू–भाग से कहीं अधिक है जो अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटकों के लिये आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है जो पर्यटकों को बार–बार भारतीय भू–भाग पर आने पर विवश करते हैं। पर्यटन के आकर्षण के केंद्र के साथ–साथ संस्कृति तथा विरासत किसी भी समाज तथा राष्ट्र की अमूल्य निधि है जिसका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है जो समाज के साथ–साथ पर्यटन को भी गति प्रदान कर सके। भारत में विरासत और संस्कृति के युग्म से एक नवीन आकर्षक माहौल पैदा करने की भी कवायद की जा रही है जो और अधिक पर्यटकों को आकर्षित कर सके।

3.2 उद्‌देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- संस्कृति के संरक्षण के महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- पर्यटन की संस्कृति तथा संस्कृति के पर्यटन से परिचित हो सकेंगे।
- संस्कृति के संरक्षण के विधियों से परिचित हो सकेंगे।

3.3 संस्कृति का संरक्षण

अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक जब भारतीय भू–भाग पर आते है तो उनके आगमन से प्रस्थान तक अनेक व्यक्ति तथा संस्था लाभान्वित होती है। इसमें यात्रा कराने वाली

EXP-001/EXP-006

संस्थाएँ, यात्रा स्थान की दुकानें, मार्गदर्शन करने वाला व्यक्ति आदि सम्मिलित है। यह लाभ सांस्कृतिक पर्यटन को विकसित करने वाले विचारों को सबल कर रहा है परन्तु इससे भारतीय विरासत तथा सांस्कृतिक परम्परा को भीखतरा भी है जो विद्वानों के चिन्तन का विषय बना हुआ है। इनके मध्य समन्वय स्थापित करना एक मध्यम मार्ग हो सकता है परन्तु यह आसान कार्य नहीं है। संस्कृति का संरक्षण किसी एक संस्था अथवा व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता इसमें चरणबद्ध प्रकार से संयुक्त रूप से संरक्षण के प्रति जागरूक होना पड़ेगा तथा भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक तत्वों के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रयास करने पड़ेंगे क्योंकि औद्योगिक प्रगति एवं पर्यावरण एवं प्राकृतिक संसाधनों का लगातार ह्रास पर्यावरण एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की चिंता बढ़ा रहा है। मानवता के इतिहास के चिह्न के रूप में उपस्थित पुरातात्विक स्थल पुराकलावशेष, स्मारक, लिपियाँ भाषा आदि नष्ट होते जा रहे हैं तथा लोक कलाओं का लोप होता जा रहा है। ऐसे में इनका संरक्षरण विद्वानों के समस्या का विषय बना हुआ है।

3.4 पर्यटन की संस्कृति बनाम संस्कृति का पर्यटन

पर्यटन' शब्द का निर्माण संस्कृत के 'अटन' प्रत्यय के युग्म से हुआहै। अटन शब्द का अर्थ 'भ्रमण' होता है। अटन के युग्म से संस्कृत में तीन शब्द निर्मित हैं तीर्थाटन जिसका अर्थ है तीर्थ क्षेत्रों का भ्रमण, देशाटन जिसका अर्थ है देश विदेश में घूमनातथा पर्यटन जिसका अर्थ है आनन्द और ज्ञान के लिए घूमना। अंग्रेजी में इसके लिए टूरिज्म (ज्वनतपेउ) शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द लैटिन शब्द ज्वउवेसे बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है वृत्त या पहिये का घूमना। इसी से पीछे चक्रात्मक भ्रमण की बात आई है। इसका प्रयोग सबसे पहले 1643 में हुआ। इसका अभिप्राय था–स्थानों पर घूमना, चक्रवत यात्रा, किसी भी स्थान के महत्वपूर्ण स्थलों की क्रमिक या व्यतिक्रमित यात्रा। इस तरह अपने मूल निवास के चारों ओर आराम, ज्ञान प्राप्ति आदि के लिए 24 घण्टे से अधिक परन्तु अस्थायी यात्रा करना ही पर्यटन है।

पर्यटन को परिभाषित करते हुए आस्त्रिया के अर्थशास्त्री हर्मन वी. स्कलर्ड ने 1910 में पर्यटन को सर्वप्रथम परिभाषित करते हुए पर्यटन को कुछ क्रियाओं का भाग बताया जो मुख्यतः आर्थिक प्रकृति की होती है, जो विदेशियों के किसी देश शहर या क्षेत्र में आगमन रूकने और चलने फिरने से सम्बन्धित होती है। प् स्विस प्रोफेसर के अनुसार पर्यटन का उदय यात्रा और ठहरने से हुआ, इस शर्त पर कि ठहरना स्थायी निवास बनाने के आधार पर न हो और पारिश्रमिक गतिविधि से सम्बन्धित न हो। 1976 में ब्रिटिश पर्यटन संस्थान द्वारा भी पर्यटन की एक परिभाषा इस प्रकार दी गई हैं– पर्यटन

EXP-001/EXP-006

लोगो का कम अवधि के लिए स्थानों को अस्थायी गति करना है, बाहर के स्थानों को जहां वे सामान्यताः रहते और कार्य करते है और इन स्थानों पर ठहरने के दौरान उनका सभी उद्दे श्यों के लिए चलना–फिरना चाहे व दिन की भेंट हो या घूमना फिरना हो" ।फ्रांसीस बेकन ने पर्यटन को परिभाषित करते हुए कहा है कि "पर्यटन युवा मानस में शिक्षा तथा प्रौढ़ मानस में अनुभव प्रदान करता है। पर्यटन से शिक्षा प्राप्त करना, आज सभ्य संसार का अंग बन गया है। पर्यटन रोजमर्रा की जिन्दगी से अलग हटकर कुछ अलग आनन्द प्रदान करता है""। मार्क ट्वेन की मान्यता है कि "स्वर्ग भी थोड़े समय बाद ऊबाऊ बन जाता है। स्तरीय जिन्दगी बिताने के लिए बदलाव बेहद जरूरी है और पर्यटन वह साधन है"। ए० जे० बरकार्ट और एस० मेडलिक के अनुसार Tourism denoted the temporary and short &term movement of people to destinations outside the places where they normally live and work and their activities at these destinations- 1976 में टुरिज्म सोसाईटी आफ ब्रिटेन ने पर्यटन को परिभाषित करने का प्रयास किया इसके अनुसार "पर्यटन अपने निवास स्थान से दूरस्थ स्थानों की अस्थायी, अल्पकालिक यात्रा है, जहां वे तरह–तरह के क्रियाकलापों के द्वारा मनोरंजन करते हैं। इनमें एक दिवसीय यात्री भी शामिल है। 1981 में IASET (International Association of Scientific EÛperts on Toursim), ने इस परिभाषा को परिष्कृत करते हुए कहा कि "पर्यटन वह स्वेच्छाकृत विनोदन क्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने स्वदेश या विदेश में घरेलू पर्यावरण से दूर समय बिताता है, इस यात्रा में रात्रिवास की अनिवार्यता नहीं है।इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि पर्यटन का आशय ऐसी गतिविधियों से है जो मनुष्य आनंद की प्राप्ति के लिए अपने निवास स्थान से दूर जाकर करता है तथा इसमें विभिन्न प्रकार के व्यय करता है।

पर्यटन मनुष्य की आधारभूत प्रवृत्ति है। मनुष्य के पग जब देहभार उठाने योग्य हो जाते हैं तो वह सर्वप्रथम दीवारों की सीमा लांघना चाहते हैं। उम्र के बढ़ने के साथ साथ उसकी इच्छा गांवों और जनपद की सीमा पार करने की होती है। घूमने की यही इच्छा उसको देश की सीमा पार करने को भी प्रेरित करती है। पर्यटन की बढ़ती इच्छाओं के फलस्वरूपजल, थल तथा नभ यात्राओं को सुगम बनाने के लिए आविष्कृत परिवहनों ने एक स्थान से दूसरे स्थान के दूरी को कम कर दिया और पर्यटक एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाने लगे। इससे मेजबान देश की आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि हुई। मेजबान राष्ट्र ने ई रिक्शा चलाने वाले से लेकर वायुयान चालक तक, स्थानीय घरों में आर्थिक सेवा करने वाले लेकर होटल व्यवसायी तक दलिया, सूप आदि से चलकर कालीन और

EXP-001/EXP-006

रेशमी साड़ी के व्यवसायी तक, मजदूर से लेकर स्वामी तक सभी अपनी–अपनी इकाई के साथ जुटे रहते हैं। ये पर्यटकों की आवश्यकता की पूर्ति करने तथा पर्यटको से सीधा लाभ प्राप्ति के लिए जुड़े होते है, जैसे होटल, यातायात, टूर एण्ड ट्रवेल एजेण्ट आदि इनके साथ हु बैंक, नाई, धोबी, चर्मकार, बीमा कम्पनीयाँ आदि भी लाभान्वित होती हैं।पर्यटन स्थल पर लगने वाले पर्यटकों के जमावड़े ने रोजगार का सूजन किया। इसमें रोजगार ने विविधताएँ देखने को मिली तथा अपनी संस्कृति एवं कलाओं को मूर्त रूप देकर प्रदर्शन करने का अभी अवसर मिला।क्योंकि इसमें कच्चा माल तैयार एवं एकत्रित नहीं करना पड़ता है। फिर भी जो सामग्री कच्चे माल के रूप में प्रयोग होती है, जैसे स्मारक, सांस्कृतिक केन्द्र, प्राकृतिक स्थल एवं दृश्य आदि सभी स्थानीय और अचल होती है। ये उस क्षेत्र के जीवन और संस्कृति से जुड़ी होती है। इनसे कोई पक्की सामग्री तैयार की जा ही नही सकती है। वे जैसी है, उसी रूप में उनको सुरक्षित रखना और उसके भूमितल को सजाना संवारना पड़ता है, ताकि पर्यटक अधिक आकर्षित हो, बार–बार वहाँ आनन्द के लिए आने को ललचाते रहे। अन्य सामाग्रियों की तरह इसे बाजार तक पहुँचाने की आवश्यकता भी नहीं होती। यहाँ क्रेता (पर्यटक) स्वयं आते है और उसके लिए वे कोई भी धन व्यय करते है। इसमें कोई मोल भाव की जगह ही नहीं होती। पर्यटक का पर्यटन स्थल से स्थानीय निवासियों के सम्पर्क से सांस्कृतिक आदान–प्रदान होता है, इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की पर्यटक यात्राओं का सृजन हुआ यथाः

1.धार्मिक पर्यटनः अधिकांश मनुष्य समुदाय किसी न किसी धर्म अथवा आध्यात्मिक संस्थाओं से जुड़ा है। इसमें मंदिर मस्जिद गुरुद्वारा चर्च आदि सम्मिलित है। इस दृष्टि से जो धार्मिक यात्राएं की जाती है, उन्हे धार्मिक पर्यटन के अन्तर्गत रखा जाता है। धार्मिक पर्यटन की प्रवृत्ति प्रायः विश्व के सभी देशों में पायी जाती है। वर्तमान वैश्विक परिवेश में धार्मिक पर्यटन अर्थव्यवस्था के मजबूत आधार बनते जा रहे हैं।

2 शैक्षणिक पर्यटनः वर्तमान समय में उच्च एवं गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा की चाह ने शिक्षा को भी व्यवसाय के रूप में परिवर्तित कर दिया है। आज विश्व का लगभग हर देश यह चाहता है कि अधिक से अधिक विदेशी छात्र शिक्षा ग्रहण करने के लिए आए साथ ही स्वदेश में भी शिक्षा के लिए लाखों की संख्या ने सुदूर प्रांतों में जाते हैं। इस प्रकार अध्ययन कार्य से की गयी देश–विदेश की यात्रा शैक्षणिक पर्यटन की श्रेणी में आती है।

3. चिकित्सा पर्यटन : स्वास्थ्य रक्षा और उत्तम चिकित्सा को ध्यान में रखकर की गयी यात्रा को स्वास्थ्य या चिकित्सा पर्यटन की संज्ञा दी जाती है। चिकित्सा पर्यटन एक

EXP-001/EXP-006

ऐसा उभरता हुआ क्षेत्र है। जिसे आवागमन की तकनीक ने अत्यंत सुगम बना दिया है। गुणवत्तापूर्ण उपचार के लिए देश विदेश की यात्राओं में वृद्धि हुई है।

4. ऐतिहासिक पर्यटनः किसी भी देश का अतीत उसके ऐतिहासिक विरासतों तथा संस्कृतियों के माध्यम से परिलक्षित होता है। अपनी ऐतिहासिक जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए जो यात्रा करते हैं उसे हम ऐतिहासिक पर्यटन की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार के पर्यटन से जहा व्यक्ति अपने अतीत के बारे में जानकारी प्राप्त करता है वहीं वह अपने वर्तमान व भविष्य को सुखमय और आनन्दमय बनाने की प्रेरणा भी प्राप्त करता है।

5. सांस्कृतिक पर्यटन : वैश्विक समाज सांस्कृतिक विविधता से परिपूर्ण है , जिसकी प्रत्येक सभ्यता लोगों के लिए अपना महत्व होता है। आमतौर पर प्रत्येक संस्कृतियों में मूलभूत अंतर होता है और मनुष्य दूसरी संस्कृतियों के तत्वों को जानने हेतु पर्यटन करता है। ऐसे पर्यटन सांस्कृतिक पर्यटन के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

6. सामाजिक पर्यटनः सामाजिक पर्यटन प्राचीन काल से ही प्रचलित है। जिसमे समाज के विविध पक्षों को जानने के लिए यात्राएं की जाती हैं। सामाजिक पर्यटन का भारतीय परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्व है।

7. साहसिक पर्यटनः साहसिक पर्यटन का विकास एक उद्योग के रूप में देखा जा रहा है जिसके कारण पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए नित नये प्रयास किये जा रहे हैं। वर्तमान समय में साहसिक पर्यटन को एक ऐसे उद्योग के रूप में देखा जा रहा है जो किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में नयी जान फूंक सकता है। इस प्रकार के पर्यटन के विभिन्न अंग है—चट्टानों पर चढ़ाई, ट्रैकिंग, रिवर राफ्टिंग, माउनटेनियरिंग, स्कीईंग एवं पैरा—ग्लाईडिंग, वाटर स्पोर्ट्स।

8. ग्रामीण पर्यटन— ऐसा कहा जाता है कि किसी भी देश की आत्मा गांवों में बसती है उसका कारण यह है कि ग्रामीण संस्कृतियां अपने बाह्य आरोपण से मुक्त होती है। ग्राम का नैसर्गिक सौन्दर्य वहां के लोगो के रहन—सहन, सभ्यता—संस्कृति, लोककला, नृत्य—संगीत, चित्रकला, वेशभूषा, तीज—त्योहारों, उत्सवों, ऐतिहासिक स्मारकों, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्थलों से अवगत होना बाह्य लोगों की जिज्ञासा होती है। ग्रामीण पर्यटन से जहां देश की समृद्ध परम्परा से पर्यटक परिचित होता है, वही विदेशी मुद्रा के रूप में भी देश को पर्याप्त आय प्राप्त होती है।

9. युवावर्ग पर्यटनः युवा पीढ़ी प्रायः सभा—समीतियों में भाग लेने, कुछ दर्शनीय स्थलों

को देखने युवा तुर्कों से मिलने या कुछ सीखने के लिए यात्रा करते हैं। ये सस्ते यात्रा–साधनों का प्रयोग करते, साधारण भोजन करते, सस्ते आवासों या रेल के प्लेटफार्म, खुले स्थानों अथवा पार्क में सोकर रात बिताते अपनी यात्रा पूरी करते हैं। इनके लिए ही यूथ हॉस्टल पर्यटन विभाग की ओर से बने हैं जहा ठहरने में कम व्यय करना होता है।

10. पारिस्थितिकी पर्यटनः पारिस्थितिकी का आशय जीवों के भौतिक पर्यावरण के साथ पारस्परिक क्रिया के अध्ययन हैं। यह पर्यटन उद्योग के पूर्णरूप के एकीकरण को मान्यता प्रदान करता है, ताकि यात्रा और पर्यटन लोगों की आय का स्रोत बने और स्थानीय लोग पृथ्वी के परिस्थिति की प्रणाली की संरक्षण सुरक्षा और बहाली में योगदान करें। इस प्रकार हम कह सकते है कि पारिस्थितिकी पर्यटन वह है जिससे पर्यावरण संरक्षण को बल मिले। पारिस्थितिकी पर्यटन चूंकि प्रकृति का सौन्दर्य और वाह्य मनोरंजन है, अतः इसके अन्तर्गत ट्रेकिंग, हाइकिंग रीवर, साफ्टिंग पर्वतारोहण, नौकायन, जीव जन्तु अवलोकन आदि जैसी व्यापक गतिविधियां शामिल है। एक प्रकार से यह साहसिक पर्यटन के सदृश है। परन्तु साहसिक पर्यटन में जहां रोमांच की प्रमुखता होती है, वही पारिस्थितिकी पर्यटन में सन्तुष्टि पर बल दिया जाता है।

इस प्रकार पर्यटन के अनेक कारण होते है और उन्ही के अनुसार पर्यटकों तथा पर्यटन का वर्गीकरण किया जा सकता है। बढ़ती रूचि और विकास के बढ़ते चरण के कारण पर्यटन के प्रकार को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता।

परन्तु इसके नुकसान भी है। पर्यटकों की बढ़ती संख्या पर्यटन स्थल की पारिस्थितिकी पर दबाव का कारण बन जाती हैं। पर्यटकों की संख्या के अनुसार वहाँ की चीजों के मूल्य में वृद्धि होती है जिससे स्थानीय लोगों को समस्या का सामना करना पड़ता है। सांस्कृतिक स्थलों पर बहुधा ऐसी सामग्रियों होती है जो जनसम्पर्क से क्षरण होने लगती है। पर्यटकों का अत्यधिक संख्या में आना ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न कर देता है।

3.5 सारांश

लगभग पाँच सहस्त्राब्दियों से अधिक प्राचीन भारतीय संस्कृति भविष्य में भी इसी प्रकार प्रवाहमान रहे इसलिए इसे संरक्षण की आवश्यकता है। संरक्षण के लिए संयुक्त प्रयास तथा पर्यटकों पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है।

EXP-001/EXP-006

3.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पर्यटक का पर्यटन स्थल पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित कीजिए।
2. संस्कृति के संरक्षण पर टिप्पणी कीजिए।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ.हरिमोहन, संस्कृति, पर्यावरण और पर्यटन,तक्षशिला प्रकाशन, 2007
2. डॉ.राजेश कुमार व्यास,पर्यटन,उद्‌भव एवं विकास,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,जयपुर

EXP-001/EXP-006

इकाई 4– ऐतिहासिक विरासत, पुरातात्विक स्थलों और स्मारकों का संरक्षण, कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 विश्व विरासत सूची

4.4 स्मारकों के संरक्षण की समस्याएँ

4.5 उपलब्ध विशेषता

4.6 कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण

4.7 सामाजिक–आर्थिक विरासत का संरक्षण

4.8 सारांश

4.9 बोध प्रश्न

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 प्रस्तावना

भारत के ऐतिहासिक विरासतों में गैर–धार्मिक तथ्यों के साथ ही साथ धर्मों से सम्बन्धित स्मारकों पुरातात्विक स्थलों, पत्थर को काटकर बनाई गई गुफाऐं, महल, घर तथा साथ ही साथ वर्तमान में अस्तित्व में विद्यमान विरासतों आदि को सम्मिलित किया गया है।

ऐतिहासिक अवशेषों स्मारकों को विरासत के रूप में निम्नलिखित वर्ग में वर्गीकृत कर संरक्षित किया जा सकता है–

- प्राक् ऐतिहासिक अवशेष
- प्राक् ऐतिहासिक और आरम्भिक ऐतिहासिक स्थल
- धार्मिक स्थल
- महापाषाण युगीन अवशेष
- पत्थर से निर्मित गुफाऐं

EXP-001/EXP-006

- विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित मंदिर
- मस्जिद और मकबरे
- महल, हवेलियों, घर, बगीचे
- अन्य प्रकार के इमारतें

यह विभाजन सुविधा के दृष्टिकोण से ही उपयुक्त है। इन स्मारकों का अस्तित्व मात्र दर्शनार्थ हेतु ही शेष है। पुरी मंदिर, दिल्ली का जामा मस्जिद, मुइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया का मजार आदि इन संस्कृतियों के उदाहरण को प्रस्तुत करते है। **"The Dilemma of Cultural Tourism in India"**नामक एक लेख में ए0जी0 कृष्ण मेनन ने इन स्मारकों के संरक्षण तकनीकी का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम फ्रांस में 1809 में सांस्कृतिक सम्पदा के संरक्षण हेतु कानून का उपयोग किया गया तथा भारत में वस्तुओं के संरक्षण हेतु India Treasure Travel Act कानून लागू किया गया। यूनान में पुरातात्विक सम्पत्ति से सम्बन्धित कानून 1887 में तथा मिश्र में 1897 में लागू हुआ। 1904 मतें भारत में Ancient Monument Preservation Act स्मारकों के रखरखाव, खुदाई, पुरातन वस्तुओं की सुरक्षा तथा तथा नियंत्रण हेतु लागू की गई तथा भारत की कोई भी पुरातन वस्तु का निर्यात बिना भारत सरकार के अनुमति के न हो सके। इसके लिए 1947 में निर्यात नियंत्रण अधिनियम लागू किया गया। 1861 में Archaeological Survey of India की स्थापना का कार्य भी किया गया। भारत सरकार ने 1951 में ऐतिहासिक स्मारकों को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण दो केन्द्रीय अधिनियमों का पालन करता है–

1. प्राचीन स्मारक और पुरातात्विक स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958
2. पुरातनता और कला कोष अधिनियम, 1972

पुरातन वस्तुओं के संरक्षण के लिए राज्य सरकार ने भी अधिनियम पारित किये है जिनके अनुसार 100 वर्ष से अधिक पुराने भवन और इमारतें पुरातन घोषित कर दिये जाऐंगे।

EXP-001/EXP-006

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- ऐतिहासिक विरासत एवं पुरातात्विक स्थलों के सरंक्षण के विभिन्न पहलुओं के

विषय में।

- कलात्मक एवं सांस्कृतिक विरासत के विविध आयामों के विषम में।

4.3 विश्व विरासत सूची

यूनेस्को द्वारा 1972 में विश्व संस्कृति और प्राकृतिक विरासत के लिए मंच प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य विश्व विरासत का विवरण देना। सदस्य देशों के स्थलों और स्मारकों को सूचीबद्ध किया, तथा संरक्षित करना था। विश्व विरासतों की सूची निर्मित की गई जिसमें 378 सांस्कृतिक स्थलों को सम्मिलित किया गया।

1979 में Pacific Asia Travel Association, Pata द्वारा आयोजित पर्यटन और विरासत सम्मेलन में सहयोग की बात प्रस्तुत की गई।

4.4 स्मारकों के संरक्षण की समस्याएँ

1. स्मारकों को बचाने और उन्हें संरक्षित रखने हेतु जागरूकता का अभाव।
2. समुचित अधिसंरचना और कार्यकर्ताओं की कमी।
3. स्थानीय नगर निकायों की उदासीनता।
4. आगंतुकों द्वारा क्षति पहुँचाना।
5. सरकारी और गैर सरकारी प्राधिकरणों के बीच तालमेल का अभाव।

4.5 उपलब्ध विशेषताएँ

स्मारकों के रखरखाव, मरम्मत, पुनर्निर्माण, विकास, वृहद प्रबन्धन के लिए तकनीक विशेषज्ञता से युक्त प्राधिकरण निम्नवत है–

1. भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
2. राज्यों के पुरातत्व और संग्रहालय विभाग
3. राष्ट्रीय संरक्षण शोध प्रयोगशाला, लखनऊ
4. भारतीय राष्ट्रीय कला तथा सांस्कृतिक विरासत न्यास
5. बिड़ला हिन्दुस्तान धर्मार्थ न्यास
6. नेशनल ट्रस्ट ऑफ इंग्लैण्ड
7. राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली

EXP-001/EXP-006

स्मारकों अथवा स्थलों पर आने वाले पर्यटकों की संख्या को नियंत्रित और नियमित रखना चाहिए। पर्यटकों को प्रबन्धकों और गाइडों द्वारा उचित निर्देश दिए जाने का प्रावधान होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धी के स्मारकों टॉवर ऑफ लंदन और वसाई के महल (पेरिस) में पर्यटकों को नियंत्रित रखना चाहिए तथा स्मारकों के प्रवेश शुल्क से प्राप्त धन का प्रयोग स्मारकों के संरक्षण में करना चाहिए। 1158 ई0 के सोनार किला जो जैसलमेर किले के निवासियों द्वारा अधिक मात्रा में जल का उपयोग होने से क्षतिग्रस्त हो गई। आगरा के ताजमहल स्मारक पर वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा।

कई ऐतिहासिक स्मारक अभी पर संरक्षण सूची के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किए गए है और आर्थिक लाभ की प्राप्ति हेतु इन्हें दिन–प्रतिदिन क्षति पहुँचाई जा रही है। कुछ पुरातन कलाकृतियों का व्यापार किया जा रहा है। इन कलाकृतियों के संरक्षण हेतु स्थानीय निकायों, स्वैच्छिक संस्थाओं, स्थानीय जनता के प्रयासों की विशेष आवश्यकता है।

4.6 कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण

हमारी कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन द्वारा विक्रय का कार्य करने में प्रयोग किया जा रहा है। इन कलात्मक और सांस्कृतिक विरासतों में जो कलाकृतियाँ सम्मिलित है वे निम्नवत् है–

1. स्थापत्य गत स्मृतियाँ
2. मूर्ति और मंदिर
3. चित्रकला
4. लोक संगीत
5. मेले
6. धार्मिक अनुष्ठान
7. साहित्य और कविता
8. हस्तशिल्प
9. जीवन–शैली

ये सभी कलाकृतियों के दर्शनार्थ हेतु पर्यटकों को उचित सम्मान और सत्कार प्रदान किया जाना चाहिए परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि पर्यटकों की जीवन शैली और चिंतन विधि हमें प्रभावित न करे। उदाहरणार्थ पुष्कर में प्रचलित मेले की शैली

EXP-001/EXP-006

पर वर्तमान में विदेशी पर्यटकों की जीवन शैली और सामाजिक समीकरण का प्रभाव स्प्ष्ट परिलक्षित होता है।

धन की आवश्यकता के कारण भी गरीब कलाकारों ने अपनी आवश्यकता के अनुरुप अपनी शैली को परिवर्तित कर दिया। बड़े पैमाने पर उत्पादन और वाणिज्यीकरण से शिल्प और शिल्पियों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। ये सभी परिवर्तन और सांस्कृतिक शैली में कोई प्रदूषण न फैले इसके लिए कला की विशेषताओं से पर्यटकों को परिचित कराया जाना चाहिए तथा उन्हें कला के आनन्द को विकृत न होने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

4.7 सामाजिक–आर्थिक विरासत का संरक्षण

पर्यटकों को आकर्षित करने हेतु कई राज्य सामाजिक दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों को पर्यटकों के लिए खोल रहे है जैसे– मरूभूमि, पहाड़ी क्षेत्र, जनजातीय क्षेत्र, समुद्र तटीय क्षेत्र।

गोवा के हिप्पी संस्कृति के उदय का स्थानीय लोगों ने विरोध किया। काठमाण्डु बनारस, पुष्कर में प्रचलित नशीली दवाओं का सेवन चिंता का विषय बनता जा रहा है। राजस्थान में मरूभूमि और जैसलमेर जैसे सांस्कृतिक संवेदनात्मक स्थलों पर एड्स बीमारी फैल गई जिसका कारण आने वाले पर्यटकों को माना गया हैं

बनेश्वर (राजस्थान) में कबिलाई मेले का उदाहरण दिखाई पड़ता है जिसे देखने हेतु पर्यटकों की भारी संख्या यहाँ आती है परन्तु ट्रैवेल एजेन्ट द्वारा पर्यटकों को उचित निर्देश न दिए जाने पर ये लोग बनेश्वर के पवित्र नदी में स्नान करती हुई स्त्रियों के चित्र लेने लगते है जिसका कड़ा प्रतिरोध किया गया।

संवेदनात्मक क्षेत्रों में पर्यटन का विकास करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए–

1. मेजबान पारिस्थितिकीय व्यवस्था की वहन क्षमता।
2. मेलों की विशेष प्रकृति।
3. स्थानीय लोगों की भावना का ध्यान।
4. करणीय और अकरणीय के बारे में आगंतुकों को पहले से बता देना।
5. विदेशी पर्यटकों को कबीलों के संसर्ग में ज्यादा देर ठहरने न देना।
6. इन क्षेत्रों में गम्भीर तथा रूचि रखने वाले पर्यटकों को ही जाने की इजाजत देना।
7. स्थानीय लोगों को पर्यटन गतिविधियों से इस प्रकार जोड़ना कि उन्हें आर्थिक

EXP-001/EXP-006

लाभ हो और नकारात्मकता में वृद्धि न हो।

पारिस्थितिकी और संवदेनशील जनता को ध्यान में रखते हुए स्थानीय संस्कृति के रक्षा हेतु कई कार्य किये जा रहे है। कुछ क्षेत्रों को वर्जित क्षेत्र घोषित किया गया है। कुछ क्षेत्रों में पर्यटन हेतु विशेष अनुमति ली जाती है जैसे लक्षद्वीप तथा अण्डमान द्वीप पर भी संस्कृति के रक्षा हेतु पर्यटकों को सीमित किया गया।

4.8 सारांश

इस इकाई में संस्कृति के पर्यटन के आयामों तथा संस्कृति के संरक्षण का विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता है उन क्षेत्रों व विरासतों का भी विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्राकृतिक और संसाधन, ऐतिहासिक विरासत, कलात्मक और सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक–आर्थिक विरासत प्रमुख है जिन्हें संरक्षण व सुरक्षित रखने की आवश्यकता है।

जनता, सरकार, संस्था, पर्यटन व्यवसाय, स्थानीय निकाय इन सभी को संस्कृति के संरक्षण का प्रयत्न करना चाहिए। पर्यटन के सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव पर भी ध्यान देना चाहिए तथा पर्यटकों के गतिविधियों पर नियंत्रण रखने का प्रयास करना चाहिए।

हमारी संस्कृति 5000 वर्ष से भी अधिक प्राचीन है अैर इस विरासत को हमें संरक्षित रखने का यथा सम्भव प्रयास करना चाहिए और यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पर्यटन का वैज्ञानिक प्रबन्धन पारिस्थितिकी और संस्कृति पर किसी भी प्रकार का कोई नकारात्मक प्रभाव न डाले।

4.9 बोध प्रश्न

1. सांस्कृतिक विरासत के महत्व का वर्णन कीजिए।
2. पुरातात्विक स्थलों के ऐतिहासिक महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
3. स्मारकों के सरंक्षण एवं महत्व का वर्णन कीजिए।

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. मीना गौड़, सांस्कृतिक विरासत, नई दिल्ली, 2013
2. डॉ.अमर सिंह, भारत की सांस्कृतिक विरासत, 2012
3. डॉ. विजय अग्रवाल एवं हेमलता श्रीवास्तव,नई दिल्ली, 2007
4. डॉ.जे.एन.,पाण्डेय,पुरातत्व–विमर्श,प्राच्य विद्या संस्थान,प्रयागराज, 2021

EXP-001/EXP-006

इकाई– 5–सामाजिक संरचना : सामाजिक ऐतिहासिक परिदृश्य–वैदिक काल में भारतीय सामाज, वैदिक युग के बाद समाज, गुप्त काल

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 पूर्व वैदिक कालीन समाज

  5.3.1 वर्ण

  5.3.2 परिवार

  5.3.3 नारी की स्थिति

  5.3.4 सन्निवेश

  5.3.4 परिधान

  5.3.6 खान–पान

  5.3.7 मनोरंजन के साधन

  5.3.8 शिक्षा

  5.3.9 रोग एवं औषधियाँ

  5.3.10 अन्त्येष्टि

5.4 उत्तर वैदिक कालीन समाज

  5.4.1 वर्ण

  5.4.2 आश्रम व्यवस्था

  5.4.3 परिवार

  5.4.4 आवास

  5.4.5 नारी की स्थिति

  5.4.6 शिक्षा

EXP-001/EXP-006

5.4.7 भोजन तथा पेय

5.4.8 वस्त्र एवं परिधान

5.5 वैदिककालोत्तर समाज

5.5.1 परिवार

5.5.2 वर्ण

5.5.3 विवाह

5.5.4 नियोग प्रथा एवं तालाक

5.5.5 स्त्रियों की दशा

5.6 गुप्तकालीन समाज

5.6.1 वर्ण

5.6.2 स्त्रियों की दशा

5.6.3 मनोरंजन

5.7 सारांश

5.8 बोध प्रश्न

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

5.1 प्रस्तावना

कोई भी संस्कृति समाज की अनुपस्थिति में गतिमान नहीं हो सकती। सामाजिक संस्थाओं में परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में परिवार प्राचीन काल से ही विद्यमान है। समाज का वर्गीकरण भी होता है जो वर्ण तथा जातियों के रूप में उदित हुए। इनमें श्रेष्ठतम बनने की स्पर्धा रही। ऋग्वेद में शूद्र शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ। शनैः–शनैः ये समाज का सुनिश्चित अंग बन गये। कालान्तर में दास प्रथा का भी उदय हुआ। समाज में रहने के अनेक नियम निर्मित तथा खण्डित हुए। प्रत्येक काल में स्त्रियों की दशा भी एक समान नहीं रही।

EXP-001/EXP-006

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

1. पूर्व वैदिक काल की सामाजिक संरचना को समझ सकेंगे।

2. उत्तर वैदिक काल की सामाजिक संरचना को समझ सकेंगे।

3. वैदिक काल के पश्चात् सामाजिक परिवर्तनों को जान सकेंगे।

4. गुप्तकालीन सामाजिक संरचना को समझ सकेंगे।

5.3 पूर्व वैदिककालीन समाज

पूर्व वैदिक कालीन समाज जो कि ऋग्वैदिक कालीन समाज के रूप में भी जाना जाता है, की सामाजिक व्यवस्था में एकरूपता नहीं दिखती। इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भव है कि ऋग्वैदिक कालीन समाज में परिवर्तन की गति तीव्र हो। ऋग्वेद का मण्डल संकलन भी एक साथ का नहीं है, इसमें कुछ मण्डल (प्रथम, द्वितीय, नवम् तथा दशम्) बाद में जोड़े गये हैं। विद्वत् जनों ने सुक्तों का अवलोकन कर ऋग्वैदिक समाज को मूल रूप से कबीलाई समाज कहा है। यह समाज पारिवारिक सम्बन्ध, रक्त सम्बन्ध तथा जाति सम्बन्धों पर आधारित था। उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदिक समाज में जातीय आधार पर कोई विभाजन नहीं था। ऋग्वैदिक समाज में कई कबीले निवास करते थे। ऋग्वेद में सामान्य कबीलाई लोगों के लिए 'कृष्टि' तथा 'चर्षणि' शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ0 सच्चिदानन्द मिश्र महोदय की मान्यता है कि 'कृष्टि उन आर्यों को कहा गया जो किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करने लगे तथा कृषि कार्य करने की योग्यता उनमें आ गयी। 'चर्षणि' शब्द के विषय में प्रो0 विशम्भर शरण पाठक का मत है कि यह आर्यों के घुमन्तू जीवन की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'अग्नित्राः कृष्टि' का भी उल्लेख है जो कृष्टि शब्द का एक से अधिक सन्दर्भ में प्रयोग होने की ओर संकेत करता है।

5.3.1 वर्ण–

ऋग्वेद में वर्ण शब्द का वर्णन प्राप्त होता है। आरम्भ में मात्र तीन वर्ण थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष सुक्त में शूद्र वर्ण का वर्णन प्राप्त होता है। इसे ही वर्ण व्यवस्था का प्राचीनतम उल्लेख माना गया है। ऋग्वैदिक वर्णव्यवस्था का आधार जन्म न होकर कर्म था। एक ही घर में विभिन्न कर्म करने वाले हो सकते थे। ऋग्वेद के 9वें मण्डल में वर्णन मिलता है कि मैं कवि हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य) हैं तथा मेरी माता उपलप्रक्षिणी (अन्न पीसने वाली) हैं।

5.3.2 परिवार–

परिवार जिसे कुल कहा जाता था, ऋग्वैदिक समाज का मूल आधार था। इसके प्रमुख को 'कुलप' कहा जाता था। 'कुलप की पत्नी भी कुलीप की भाँति समाद्रत थी।

EXP-001/EXP-006

कुलप का आदेश सभी पारिवारिक सदस्य स्वीकार करते थे। ऋग्वेद में 'ऋणास्व' नामक द्युत प्रेमी का उल्लेख मिलता है जिसे उसके पिता ने अन्धा कर दिया था। ऋग्वेद में वर्णित है कि पिता आवश्यकता पड़ने पर अपने पुत्र को बेच सकता था। ऋग्वेद में 'नृप्त' शब्द का वर्णन मिलता है जिसके अन्तर्गत दादा, दादी, नान, चचेरे भाई, बहन, भतीजे, पोते, परपोते आदि आते थे। माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र और पुत्री के लिए स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग किया गया है। वैदिक समाज में मुख्यतः एक पत्नी विवाह का प्रचलन था परन्तु बहु पत्नी का अस्तित्व था।

5.3.3 नारी की स्थिति–

ऋग्वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था लेकिन स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक थी तथा वह सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित थी। ऋग्वैदिक सुक्तों में कामना में पुत्र ही है परन्तु कन्या का जन्म शोक विषय नहीं था। पत्नी को 'जोयेदस्तम्' कहा गया है। इस काल की प्रसिद्ध जनसभा 'विदथ' में स्त्रियों को पुरुषों की भाँति अपनी बात रखने का पूर्ण अधिकार था। ऋग्वेद में शची, पौलोमी, सूर्या, रोमशा, अपाला, कांक्षावृत्ति, घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, विशपला, मुद्गलानी आदि विदुषी कन्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। ये महिलाएँ उपनयन संस्कार से युक्त होती थी तथा पुरुष ऋषियों की भाँति ये भी ऋग्वैदिक मंत्रों की द्रष्टा थी। ऋग्वैदिक सभा में नियोग प्रथा, पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन था। इस काल में स्वयंवर का भी अधिकार था। ऋग्वैदिक समाज में पर्दा–प्रथा एवं विवाह विच्छेद प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में दास कन्याओं को दान में दिये जाने का भी वर्णन है।

5.3.4 सन्निवेश–

ऋग्वैदिककालीन सन्निवेश में एकरूपता नहीं थी। इनके तीन अवस्थाओं को देखा जा सकता है। प्रथम जो यायावरीय जीवन पद्धति से जुड़े थे। इनका सन्निवेश अस्थायी होता था जिसे 'छद्रि' कहा गया। ये अस्थायी बस्तियाँ लकड़ी से बने एक घेरे में होती थी। दूसरी अवस्था में आर्य जन अपनी यात्रा के लिये जिन वाहनों का प्रयोग करते थे उसे ही अस्थायी सन्निवेश के रूप में प्रयोग करना आरम्भ किया। तीसरी अवस्था में नदियों के किनारे स्थायी सन्निवेश बने जिनके लिये पत्स्य, व्रज, व्रजन आदि शब्द का प्रयोग हुआ है।

5.3.5 परिधान–

ऋग्वैदिक जन साधारण वेशभूषा धारण करते थे। उनका परिधान जिसे शरीर के ऊपर ओढ़ा जाता था को 'यत्क, द्रापि या अधीवास' कहा जाता था। वासस् से शरीर की

EXP-001/EXP-006

शोभा बढ़ती थी तथा शरीर भी ढकता था। कमर के नीचे पहने जाने वाला वस्त्र 'नीवि या अधोवस्त्र' कहा जाता था। वस्त्रों के निर्माण में सूत, ऊन, मृगचर्म तथा चर्म का प्रयोग किया जाता था। ये सिलाई तथा कढ़ाई की कला से परिचित थे। इस काल में उष्णीश धारण करने की प्रथा का भी प्रचलन था। पुरुष तथा स्त्रियों में समान रूप से आभूषण की प्रियता थी। निष्क, कर्णफूल, भुजबन्ध, खड्डवे, मणिग्रीव, वक्ष, सुरुक्मा आदि प्रमुख आभूषण थे। ऋग्वैदिक समाज में बाल काटने तथा दाढ़ी बनाने वाले भी थे।

5.3.6 खान–पान–

ऋग्वैदिक आर्य भोजन में दुग्ध से निर्मित भोज्य पदार्थों का सर्वाधिक उपयोग करते थे। ऋग्वेद में क्षीरपाकौदन (खीर) तथा अपूप (मालपुआ) का अनेकत्र उल्लेख मिलता है। जौ से निर्मित भौज्य पदार्थ भी ऋग्वैदिक आर्यों का प्रिय था। ऋग्वेद में मांसाहारी लोग भी थे। मांसाहार में भेड़–बकरी आदि पशुओं का मांस प्रयोग में लाया जाता था। इस काल में यज्ञ के समय सोम पान करने का विधान था।

5.3.7 मनोरंजन के साधन–

ऋग्वैदिक समाज में घुड़–दौड़, रथ–दौड़, अक्षवेदन, गायन, नृत्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। ऋग्वेद में वीणा, दुन्दुभि, नाष्ठी आदि वाद्य यंत्रों का वर्णन प्राप्त होता है। पासा खेलना ऋग्वैदिक आर्यों को अत्यधिक प्रिय था।

5.3.8 शिक्षा–

ऋग्वैदिक समाज में शिक्षा का माध्यम मौखिक प्रणाली था। विद्यालय गुरु का आवास होता था जहाँ शिष्य गुरु के मुख से निकले मंत्र को दोहराया करते थे। शिक्षा का उद्देश्य आत्मज्ञान की प्राप्ति था। इससे व्यक्तित्व का विकास तथा संस्कारों का सृजन होता था।

5.3.9 रोग तथा औषधियाँ–

ऋग्वेद में औषधिशास्त्र का देवता अश्विनी देवताओं को माना गया है जिनमें रोगों का निदान करने की अद्भुत शक्ति थी। इस काल में औषधियों का निर्माण जड़ी–बूटी की सहायता से बनाई जाती थी।

5.3.9 अत्येष्ठि–

इस काल में मृतक को जलाने तथा दफनाने की प्रथा का प्रचलन था परन्तु इस समाज में विधवाओं का दाह करने की मनाही थी।

EXP-001/EXP-006

5.4 उत्तर वैदिक कालीन समाज

5.4.1 वर्ण–

जहाँ ऋग्वैदिक समाज में वर्ण सामाजिक एवं आर्थिक सुविधा के लिये था वहीं उत्तर वैदिक काल में वर्ण सामाजिक वर्ग विभाजन का आधार बन गया था। अब ये वंशानुगत हो गये थे तथा वर्ण का व्यवसाय परिवर्तन इस काल में कठिन हो गया था।

उत्तर वैदिक काल में चारों वर्णों की स्थितियाँ भी अलग–अलग हो गयी थी। चारों वर्णों के लिये चार अलग–अलग रंग के यज्ञोपवीत का विधान किया गया था। चारों वर्णों के लिये भिन्न–भिन्न सम्बोधन का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में वर्णन प्राप्त होता है कि अलग–अलग वर्णों की अन्त्येष्टि के लिए अलग–अलग टीलों का विधान था। अधिकतर विद्वान मानते हैं कि शूद्रों का एक निश्चित सामाजिक वर्ग उत्तर वैदिक काल तक स्थापित हो चुका था जो अन्य तीन वर्गों से निम्नतम स्तर पर था। ब्राह्मण ग्रंथ में द्विज एवं शूद्र कन्याओं को लेकर विरोधाभासी बाते कही गयी हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में द्विज एवं शूद्र कन्याओं का विवाह सम्भव बताया गया है। दूसरी ओर इसे सामाजिक दृष्टि से अनुचित कहा गया है। शूद्र उपनयन संस्कार से वंचित थे। प्रो0 राधा कुमुद मुखर्जी महोदय वाजसचेय संहिता में वर्णित तथ्यों के आधार पर कहते हैं कि सभी वण्र वेदाध्ययन के अधिकार थे परन्तु श्रौत साहित्य शूद्र के वेदाध्ययन का निषेध करता है। शतपथ तथा पंचविश ब्राह्मण शूद्रों को यज्ञादि कर्म की आज्ञा प्रदान नहीं करते। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर शूद्र द्वारा पितृमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद के शतक स्त्रोत में अनेक शूद्र जातियों को शिवोपासक कहा गया है।

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दो सर्वश्रेष्ठ वर्ग थे। ब्राह्मण अपने ज्ञान, शुचिता, यज्ञादि कर्मकाण्ड में निपुणता के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। क्षत्रिय का स्थान उसके बाद का जिस पर रक्षा का दायित्व था, यही भूमि का स्वामी होता था। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। वैश्य उद्योग तथा अपने धन्धे में रत रहते थे। इनका कार्य कर देना था। शूद्र सामाजिक वर्गीकरण में सर्वाधिक निचले स्तर पर था परन्तु इस समाज में अस्पृश्यता नहीं थी।

5.4.2 आश्रम व्यवस्था–

आश्रम व्यवस्था का उदय भीउत्तर वैदिक काल में हुआ। आरम्भ में तीन आश्रम थे– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ। कालान्तर में उपनिषद काल में इसमें सन्यास आश्रम भी जुड़ गया। ब्रह्मचर्य आश्रम का सम्बन्ध मुख्य रूप से विद्यार्जन से था। गृहस्थ आश्रम

EXP-001/EXP-006

में व्यक्ति वैवाहिक जीवन से बद्ध होकर सामाजिक निर्वाह करता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति घर गृहस्थी के दायित्वों से स्वयं को व्यस्त कर लेता है। सन्यास आश्रम में व्यक्ति संसार से विरत होकर मोक्ष प्राप्ति प्रयत्न करता है। आश्रम व्यवस्था को मानव जीवन के कार्य विभाजन का पहला प्रयास माना जा सकता है।

5.4.3 परिवार–

यह काल भी पितृसत्तात्मक था जिसमें गृहपति परिवार का सर्वेसर्वा होता था। उत्तर वैदिक समाज में एक पत्नी विवाह तथा बहुपत्नी विवाह दोनों का प्रचलन था परन्तु एक पत्नी विवाह ही आदर्श रूप में स्थापित था। बहुपत्नी होने पर ज्येष्ठ पत्नी ही मुख्य पत्नी के रूप में धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेती थी। पुत्र का जन्म हर्ष का विषय होता था। उसे परिवार का रक्षा करने वाला माना जाता था। ऐतेरेय ब्राह्मण का कथन है कि पुत्रों का आपस में न बनने की स्थिति में पिता अपनी सम्पदा का बंटावारा अपने जीवन काल में ही कर सकता था।

5.4.4 आवास–

इस काल में स्थायी निवास निर्मित होने लगे थे। आवास के निर्माण में कच्ची–पक्की ईंट, घास–फूस, मिट्टी, लकड़ी तथा बाँस की सहायता ली जाती थी। यजुर्वेद में उल्लेख हैं कि घर का निर्माण ईंटों की दीवार बनाकर उसे चारों तरफ से कच्ची मिट्ट की भिठत्ती से जोड़ा जाता था। छत निर्माण में लकड़ी के विशाल लट्ठों का प्रयोग किया जाता था। अथर्ववेद में उल्लेख है कि इस काल में छत ढकने के लिए घास–फूँस एवं खर–पतवार का प्रयोग किया जाता था। इस काल में घर बहुकक्षीय भी होता था।

5.4.5 नारी की स्थिति–

ऋग्वैदिक काल की तुलना में इस काल में महिलाओं के सम्मान में कमी देखी गयी। अथर्ववेद में उल्लेख है कि कन्या के जन्म को दुःख का कारण भी समझा जाने लगा था। ऐतेरय ब्राह्मण में पुत्री को दुःख का माध्यम कहा गया है। मैत्रेयणी संहिता में नारी पासा और सुरा को तीन प्रमुख बुराई बताया गया है। गार्गी, मैत्रेयी एवं कात्यायनी नामक कुछ विदुषियों का वर्णन भी प्राप्त होता है। यजुर्वेद में एक स्थान पर वर्णन है कि वह स्त्रियाँ विवाह के लिए अधिक उपयुक्त थी जिन्होंने विद्यार्जन किया है। इस काल में महिलाओं को संगीत का ज्ञान दिया जाता था जिसका वर्णन तैत्तिरीय संहिता तथा मैत्रायणी संहिता से पता चलता है।

EXP-001/EXP-006

5.4.6 शिक्षा–

उत्तर वैदिक काल में गुरुकुकल शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ। इस काल में नारी शिक्षा दो रूपों में होती थी। प्रथम वह नारी जिसे पढ़ने–लिखने, संगीत तथा घर–गृहस्थी का ज्ञान कराया जाता था, ये स्त्रियाँ साद्योद्‌वाहा कही जाती थी। उपनिषद् काल में ब्रह्म ज्ञान तथा ब्रह्मचिन्तन के साथ तपस्वी नारियाँ ब्रह्मवादिनी कही जाती थी। उस काल में बालकों को शिक्षार्जन हेतु उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुल जाना पड़ता था। साथ ही चरक प्रणाली भी इस काल में विकसित की गयी थी।

5.4.7 भोजन तथा पेय–

उत्तर वैदिक काल में भोजन में शाकाहार अधिक प्रयुक्त होता था। दुग्ध एवं घृत निर्मित भोज्य पदार्थ की लोकप्रियता थी। ब्राह्मण ग्रंथों में अपूप, ओदन, तिलौदन, करम्भ तथा यवांग आदि भोज्य पदार्थ का वर्णन मिलता है। इस काल में चावल का उत्पादन होने लगा था। अथर्ववेद में मांस खाने तथा सुरा पान करने को पाप–कर्म कहा गया है। उत्तर वैदिक समाज में सोम, मासर, अजुनानी आदि पेय प्रचलित थे। ये मधु तथा ईख का प्रयोग करते थे।

5.4.8 वस्त्र एवं परिधान–

उत्तर वैदिक काल में वस्त्रों के निर्माण में सूत, ऊन तथा रेशम का प्रयोग किया जाता था। याक्षिक अनुष्ठान के समय मृगचर्म धारण किये जाते थे।

दीक्षा अनुष्ठान के समय कुश का वस्त्र तथा धार्मिक अनुष्ठान के समय रेशम का वस्त्र पहना जाता था। रेशमी वस्त्र 'ताप्र्य' तथा 'क्षौभ' थे। सूती कपड़ों को 'वासस्' कहा गया है। अथर्ववेद में अधिवास परिधान हेतु 'उपासन', 'प्रतिधि' एवं 'द्रापि' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये वस्त्र कमर के ऊपर पहने जाते थे। इस काल में उष्णीश धारण करने की प्रथा थी। अधोवस्त्र, जो कमर के नीचे पहना जाता था, ये धोती तथा नीवीं, बन्धन की विशेष लोकप्रियता थी। उत्तर वैदिक ग्रंथों में जूते के प्रयोग की ओर भी संकेत मिलता है।

उत्तर वैदिक नर–नारी दोनों में आभूषण की प्रियता समान रूप से थी। इस काल में निष्क, रूक्मपाश, कर्णशोभन, कर्णभारण, मुक्ताभूषण, मणिग्रीव आदि प्रसिद्ध आभूषण थे। ये अपने बालों को सँवारने में विशेष रूचि लेते थे। पुरुष तथा स्त्रियाँ 'कपर्द' धारण करती थी। महिलाएं कुम्भाकार जुड़ा बनाती थी।

EXP-001/EXP-006

5.5 वैदिककालोत्तर समाज

5.5.1 परिवार—

वैदिकोत्तर काल में परिवार का स्वरूप बढ़ता गया। गृहस्वामी परिवार का प्रमुख होता था जिसकी आज्ञा का पालन सभी परिजनों का दायित्व था। गृहपति की मृत्यु के पश्चात् गृहस्वामी ज्येष्ठ पुत्र बनता था। बौद्धकाल में भी परिवार का स्वरूप संयुक्त था जिसमें गृहपति परिजनों में वरिष्ठ होता था। बुद्ध काल में भिक्षु बनने का भी प्रचलन था।

भिक्षु जीवन में प्रवेश करने के लिये कभी—कभी गृहस्वामी की आज्ञा की अवहेलना भी करता था। पुरुषों के साथ—साथ स्त्रियाँ भी भिक्षुणी जीवन को अपनाती थी। ये लोग घर से दूर मठों में निवास करते थे। गृहत्याग की इस प्रवृत्ति ने संयुक्त परिवार के स्वरूप पर आघात किया। वैदिकोत्तर काल में सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में कमी दिखने लगी तथा पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन के सन्दर्भ में अनेक मत देखने को मिलते हैं।

5.5.2 वर्ण—

वैदिक काल में उपरान्त सूत्रकाल का आरम्भ हुआ। इस काल में प्रत्येक वर्ण के निश्चित कर्म तथा दण्ड का निर्धारण किया गया। कर्माधारित वर्ण व्यवस्था जन्माधारित हो गयी। इस काल में ब्राह्मणों की स्थिति में उत्तरोत्तर प्रगति हुई तथा शूद्र दयनीय स्थिति को प्राप्त होते गये। सूत्रों में शूद्र 'शमशान की भाँति अशुद्ध' बताये गये तथा उन्हें शिक्षार्जन तथा संस्कार से वंचित कर दिया गया। जैन तथा बौद्ध समुदायों के उदय ने जाति प्रथा का विरोध तो किया परन्तु इससे शूद्रों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। महाभारत काल के वर्णन इस ओर संकेत करते हैं कि शूद्र अपने सद्कर्म से समाज में प्रतिष्ठित हो सकते थे। मातंग तथा विदुर आदि इसके उदाहरण हैं। शूद्र यज्ञ ने आमंत्रित होते थे तथा कुछ सीमा में कृषि तथा व्यापार कर सकते थे। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में चारों वर्ण तथा उनके कार्य का वर्णन करते हुए वर्णाश्रम धर्म की स्थापना को राजा का कर्तव्य बताया है। स्मृतिकारों ने भी वर्ण तथा उनके कार्यों का वर्णन किया हैं। इस समय तक अनेक वर्ण जातियाँ समाज में उपस्थित हो गयी थी। शुंगों के काल में भी इसी व्यवस्था का प्रचलन रहा।

ब्राह्मण सर्वाधिक सम्मान प्राप्त वर्ण था जिसके मुख्य रूप से 6 प्रस्थान कर्म थे। अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना। अर्थशास्त्र में वर्णित है कि 'स्वधर्मों ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं दानं, प्रतिग्रहश्चे महाभारत में अध्यापन, आत्मनियंत्रण तथा तप को ब्राह्मण का धर्म एवं शम, त्म, शुद्धि, तप, क्षमा करने की भावना, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक होने को ब्राह्मण का कर्म बताया गया

EXP-001/EXP-006

है। मनुस्मृतिकार ब्राह्मण के कर्म अध्ययन एवं अध्यापन बतलाया है। ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। कौटिल्य ने अपराधानुसार मस्तक पर चिह्न अंकित करने की बात कही। संकट के समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कार्य को भी कर सकता था।

ब्राह्मण के बाद क्षत्रियों का स्थान आता था। इनका धर्म प्रजा कीह रक्षा करना, यज्ञादि पुष्य आयोजन कराना तथा दान देना था। अर्थशास्त्र में वर्णित है कि क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्रजीवों भूतरक्षणं च' अर्थात् क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, भजन, दान, शस्त्र के द्वारा जीविका प्राप्त करना तथा प्राणियों की रक्षा करना है। महाभारत में शौर्य, तेज, चतुरता, वीरता, दानदाता तथा ईश्वर में आस्था क्षत्रिय के कर्म बतायें गये है। मनुस्मृतिकार ने क्षत्रियों को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया है। आपात स्थिति में क्षत्रिय वैश्य के कार्य कर रसकते थे।

क्षत्रियों के बाद वैश्य आते थे। बुद्ध काल में इन्हें 'गृहपति' कहा गया है। ये कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्यिक कार्यों से अपनी आजीविका चलाते थे। आपातकाल में वैश्य क्षत्रिय तथा शूद्र के कार्य अपना सकते थे।

शूद्र इस वर्गीकरण में सबसे निचले पायदान पर था जिसकी स्थिति वैदिक काल के बाद अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। उच्च वर्ग इनका उपयोग अपनी इच्छानुसार करते थे। सूत्रकारों ने शूद्र की हत्या का दण्ड सामान्य पशुओं के दण्ड के समान कर दिया। इन परिवर्तनों में अस्पृश्यता को जन्म दिया तथा शूद्र अस्पृश्य हो गये। मौर्यकाल में शूद्र अपने से उच्च वर्ग की सेवा के साथ कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्यिक कार्य करने लगे थे। अशोक के लेख उसके शासन में शूद्रों के साथ उदार भाव की सूचना देते है परन्तु शर्मा एवं थापर प्रभृति विद्वान शूद्रों की स्थिति दयनीय बताते हैं।

5.5.3 विवाह–

वैदिकोत्तर ग्रंथों में आठ प्रकार के विवाह वर्णित हैं– ब्राज, दैव, आर्य, प्राजापत्य, आस्ठर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से अन्तिम चार विवाह अप्रशस्त कहे गये। हिन्दू समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह का भी प्रचलन था। समाज एक विवाह तथा बहुविवाह का प्रचलन था लेकिन एक पत्नी विवाह ही आदर्श रूप में स्थापित था।

5.5.4 नियोग प्रथा एवं तलाक तथा पति के नपुंसक होने की स्थिति–

नियोग प्रथा के अन्तर्गत पति के ना होने की स्थिति में पुत्र प्राप्ति के लिए स्त्री अपने देवर अथवा किसी संगोतीय व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती थी। इससे उत्पन्न पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। अनेक शास्त्रकार इस प्रथा की

EXP-001/EXP-006

निंदा करते है।

विवाह के पश्चात्, तलाक अथवा विच्छेद का भी उल्लेख प्राप्त होता है। तलाक का अधिकार स्त्री तथा पुरुष दोनों को था परन्तु पुरुषों के पास स्त्रियों की तुलना में अधिक अधिकार थे।

5.5.5 स्त्रियों की दशा–

वैदिक काल के पश्चात् समाज में स्त्रियों की दशा चिन्तनीय हो गयी। कन्या का जन्म शोक का विषय बन गया। स्त्रियों को अधि संस्कारों से वंचित कर दिया गया। कन्याओं का विवाह अल्पायु में ही किया जाने लगा। कुछ कुलीन परिवारों की महिलायें शिक्षित होती थी लेकिन स्त्रियों पर प्रतिबन्ध बढ़ने लगा। विदेशी आक्रमणों ने स्त्रियों की दशा में और गिरावट की। पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथा बन्द हो गया तथा सती प्रथा का उदय हुआ। इस काल में स्त्री धन सम्बन्धी अधिकारों में वृद्धि हुई।

5.6 गुप्तकालीन समाज

5.6.1 वर्ण–

गुप्तकालीन समाज में वर्ण व्यवस्था का स्वयप पूर्ववत् बना हुआ था। इस काल में चातुर्वण्य के अतिरिक्त कुछ जातियाँ भी गुप्तकालीन समाज में निवास करती थी। जातियों का स्वरूप सरल था। पूर्व की भाँति वर्णानुसार आवास तथा न्यायिक प्रणाली में भेद–भाव होता रहा। इस काल में वर्णानुसार व्यवसाय को छोड़ दूसरे वर्ण का व्यापार अपनाये जाने का वर्णन मिलता है। गुप्तकालीन रचना मृच्छकटिकम् में चारुदत्त नामक ब्राह्मण को व्यापारी कहा गया है। क्षत्रिय भी इस काल में व्यापार तथा वाणिज्य के कर्मों से जुड़ गये थे। इस काल में शूद्र कृषि तथा व्यापार करने के अधिकारी हो गये थे। इस काल में अस्पृश्यता का प्रचलन था।

गुप्तकालीन समाज में दास प्रथा का प्रचलन था। दास का शरीर उनके स्वामी के अधीन था जो ऋण चुकाने पर मुक्त हो जाता था।

5.6.2 स्त्रियों की दशा–

गुप्तकाल में रचे गये साहित्यों से तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी दिखाई पड़ती थी। विवाह सजातीय तथा विजातीय दोनो होते थे। इस काल के नारद एवं पाराशर स्मृतियाँ विधसवा के पुनर्विवाह को समर्थन देते हैं परन्तु बृहस्पति स्मृति इसके विरोध में है। इस काल में विवाह की आयु 15 वर्ष से कम थी तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था। गुप्तकालीन समाज में वैश्यावृत्ति भी होती थी। गुप्तकालीन समाज में

पर्दाप्रथा का प्रचलन नहीं था तथा स्त्रियाँ सम्पत्ति की भी अधिकारी होती थी।

5.6.3 मनोरंजन–

गुप्तकालीन समाज में संगीत, नृत्य, नाटक आदि मनोरंजन का साधन था। इस काल में युवक प्रणय कला का भी ज्ञान अर्जित करते थे।

5.7 सारांश

भारतीय सामाजिक संरचना में अनेकता तथा एकरूपता दोनों ही तत्व प्राप्त होते हैं। वैदिक काल से ही परिवार तथा परिवार के स्वामी की स्थिति सतत् चली आ रही थी जिसकी संयुक्तता पर बौद्ध धर्म ने प्रहार किया और युवक–युवतियाँ भिक्षु तथा भिक्षुणी बनकर मठों में निवास करने लगे। समाज में वर्ण तथा जातियों का अस्तित्व बना रहा। कर्माधारित वर्ण व्यवस्था जन्माधारित हो गयी तथा वैदिक काल के बाद के काल में जातियों की भी उत्पत्ति हुई तथा विजातीय विवाह ने वर्णसंकर जन्में। भारतीय समाज में सजातलीय विवाह तथा अन्य जातियों में विवाह होता रहा। एक पत्नी विवाह आदर्श होने के बाद भी बहुपत्नी विवाह समाज में स्थित रहा। स्त्रियों की दशा लगातार गिरती रही एवं स्त्री शिक्षा कुलीन वर्गों तक सीमित हो गयी। वैदिकोत्तर समाज में स्त्रियों में को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हुआ।

5.8 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में नारियों की स्थिति पर टिप्पणी कीजिए।
2. वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था पर टिप्पणी कीजिए।
3. भारतीय समाज में परिवार के स्वरूप में परिवर्तन को रेखांकित कीजिए।

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- रेगोजिन, जी0 एव – वैदिक इण्डिया, 1895
- सम्पूर्णानन्द, आर्यों का आदि देश, इलाहाबाद, वि0स0 2010
- मिश्र, राम नमा, प्राचीन भारतीय समाज अर्थव्यवस्था एवं धर्म, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1991
- थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1990
- शर्मा, आर0 एस0, शूद्राज इन एन्शियन्ट इण्डिया,
- अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, एजूकेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया

EXP-001/EXP-006

- मुखर्जी, राधा कुमुद—एन्शियन्ट इण्डियन एजूकेशन
- दूबे, एच0 एन0 —भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2018
- श्रीवास्तव, के0 सी0—प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, 2021—22

EXP-001/EXP-006

इकाई – 6–रीति–रिवाज अनुष्ठान और पंथ

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 रीति–रिवाज और अनुष्ठान

6.3.1 रीति–रिवाज और अनुष्ठान के कार्य तथा उनकी भूमिका

6.3.2 रीति–रिवाज और अनुष्ठान के प्रकार

6.3.3 रीति–रिवाज और अनुष्ठान का मानवीय जीवन चक्र से सम्बन्ध

6.3.4 अन्य रीति–रिवाज और अनुष्ठान

6.4 पंथ

6.5 सम्प्रदाय

6.5.1 हिन्दू सम्प्रदाय

6.5.2 बौद्ध सम्प्रदाय

6.5.3 जैन सम्प्रदाय

6.5.4 इस्लाम सम्प्रदाय

6.5.5 सिख सम्प्रदाय

6.5.6 ईसाई सम्प्रदाय

6.6 सारांश

6.7 बोध प्रश्न

6.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

6.1 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज रीति–रिवाज और अनुष्ठान के बन्धन से बंध हुआ है। धर्म, समाज, समुदाय आदि में परिवर्तन होने पर इनमें भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक धर्म के अपने रीति–रिवाज है जो दूसरे धर्मों में मान्य नहीं है। कहीं–कहीं यह स्थानीयता तथा सामुदायिकता से भी प्रभावित होते है।

भारतीय भू–भाग आरम्भ से ही विविधताओं से परिपूर्ण रहा है। अतः इस भूमि पर अनेक पंथ तथा सम्प्रदाय जन्म लिए तथा विकसित हुए। कुछ सम्प्रदाय विश्व के अनेक स्थलों तक फैले।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- भारतीय समाज में रीति–रिवाज एवं अनुष्ठान की विविधता से परिचित हो सकेंगे।
- भारत के प्रमुख पंथों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- भारत के प्रमुख सम्प्रदायों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

6.3 रीति–रिवाज और अनुष्ठान

प्रत्येक समाज रीति–रिवाज और अनुष्ठान के बंधन से बंधा हुआ है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त अनेक घटनाओं में हम रीति–रिवाज अनुष्ठान तथा परम्परा शब्द सुनते हैं परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि रीति–रिवाज अथवा अनुष्ठान माने जाने की कसौटी क्या है। उदाहरण के रूप में भारतीय समाज में अभिवादन के कई रूप प्रचलित है। हिन्दू समाज में छोटे लोग अपने गुरु तथा अपने से श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ का अभिवादन चरण स्पर्श कर करतें है। कुछ लोग गले मिलते है, कुछ लोग हाथ मिलाते है तथा कुछ लोग हाथ जोड़कर भी अभिवादन करते है। इसी प्रकार कुछ समुदाय नवजात शिशु का मुण्डन कराते हैं। मुस्लिम समुदाय में एक विशेष परम्परा का प्रचलन है। परन्तु कुछ समुदाय ऐसे भी हैं जहाँ केश प्रक्षालन से जुड़ी कोई नियम नहीं है। विवाह के समबन्ध में भी प्रत्येक समुदाय में भिन्न–भिन्न नियम है। हिन्दू समुदाय में फेरे लेने तथा सिन्दूर लगाने की प्रथा है।

समाज में प्रचलित ये नियम सामाजिक नियम हैं, धार्मिक नियम है अथवा रीति–रिवाज एवं अनुष्ठान। इन प्रश्नों के बाद भी उपर्युक्त नियम तथा परम्परा को रीति–रिवाज तथा अनुष्ठान के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। रीति–रिवाज शनैः–शनैः अनुष्ठान का रूप धारण कर लेते है। यथा–विवाह एक रीति है जिसके लिए अलग–अलग सम्प्रदाय में अलग–अलग अनुष्ठान होता है। एडमण्ड लीच महोदय की मान्यता है कि तर्कसंगता के अभाव के कारण रीति–रिवाज अनुष्ठान एवं समारोह जैसे शब्दों की व्याख्या नहीं की गयी है। उन्होंने उदाहरण देते हुए समझाया कि हाथ मिलाना अंग्रेजी प्रथा में अनुष्ठान का एक स्वरूप है परन्तु आलू बोना नहीं। लीच अनुष्ठान सम्बन्धी शुद्धता एवं सांस्कृतिक शुद्धता विभेद में नहीं देखते है।

EXP-001/EXP-006

6.3.1 रीति–रिवाज और अनुष्ठान के कार्य तथा उनकी भूमिका–

भारतीय समाज में रीति–रिवाज एवं अनुष्ठान का गहरा प्रभाव है। भारतीय समाज में समय–समय पर भिन्न–भिन्न प्रकार के सामुदायिक तथा धार्मिक अनुष्ठान होते रहते हैं तथा इन अनुष्ठानों के पीछे भिन्न–भिन्न प्रकार के कारण बताते जाते है। धार्मिक तथा सामुदायिक अनुष्ठान कराने के लिए सम्बन्धित वर्ग का पुजारी होता है जिसकी रोजी–रोटी इन अनुष्ठानों पर ही निर्भर है। अनुष्ठान करने का उद्देश्य सकारात्मक होता है। जीवन की नकारात्मकता एवं निराशा को दूर करने के लिए ही अनुष्ठान का आयोजन किया जाता है। इनको पुण्य तथा पाप से भी सम्बन्धित किया गया है। तीर्थ, यज्ञ, दान, उपवास आदि अनेक माध्यम पाप के क्षरण के लिए तथा पुण्य की प्राप्ति के लिए बताये गये है। कई बार अनुष्ठान अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए तथा सामाजिक वर्चस्व को दिखाने के लिए भी किया जाता है। ऐसे आयोजन में विशाल जनसमूह आमंत्रित किया जाता है। अपनी पहचान स्वरूप भी कुछ अनुष्ठान किये जाते है जैसे यज्ञोपवीत संस्कार, खतना, सिन्दूरदान आदि।

6.3.2 रीति–रिवाज और अनुष्ठान के प्रकार–

धार्मिक, सामाजिक, सामुदायिक गतिविधियों, उनके कार्यों, उनके कार्यों की प्रकृति के आधार पर रीति–रिवाज तथा धर्म के कई विभाजन हो सकते है। प्रत्येक धर्म, समाज अथवा समुदाय जन्म से मृत्युपर्यन्त अनेक प्रकार के रीति–रिवाज तथा अनुष्ठान से जुड़ा हुआ है। इसमें जन्म, धार्मिक शिक्षा एवं दीक्षा संस्कार, विवाह, तीर्थ, व्रत, त्यौहार तथा मृत्यु सम्मिलित हैं।

6.3.3 रीति–रिवाज और अनुष्ठान का मानवीय जीवन चक्र से सम्बन्ध–

मानवीय जीवन चक्र के प्रत्येक चरण रीति–रिवाज एवं अनुष्ठान से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए है। आपने गौर किया होगा कि जैसे ही जननी गर्भावस्था में जाती है, वहीं से रीति–रिवाजों एवं अनुष्ठान प्रारम्भ हो जाते हैं। हिन्दू समाज में गर्भाधान को भी एक अनुष्ठान के रूप में स्थापित किया गया है जो षोडश संस्कार में प्रथम संस्कार है। जैसे–जैसे गर्भ में शिशु की वृद्धि होती है वैसे–वैसे जननी पर भी प्रतिबन्ध बढ़ने लगते है। खाद्य पदार्थ, दैनिक कार्य तथा परिधान आदि पर भी प्रतिबन्ध लगने लगते है। कई समुदाय पुत्र की कामना से अनेकों अनुष्ठान कराते है। कुछ समुदायों में गर्भावस्था के दौरान पति के समीप नहीं रहा जाता।

शिशु के जन्म लेने पर अधिकांश समुदायों में जननी को परिजनों से अलग रखा जाता है, जहाँ उसकी शुद्धता का विशेष ध्यान रखा जाता है। कुछ समुदायों में जननी

EXP-001/EXP-006

की सेवा के लिये सेविका नियुक्त की जाती है। प्रसव के दसवे, बारहवें, तीसवें या चालीसवें दिन शुद्धीकरण स्नान कराया जाता है जिसमें जननी का केश धुला जाता है। अलग–अलग समुदायों में शिशु से सम्बन्धित भी अनेक अनुष्ठान कराया जाता है एवं उसके कान में वैदिक मंत्र बोला जाता है। इसी प्रकार मुस्लिम शिशु के कान में अजान तथा ईसाई शिशु के कान में ईसामसीह के संदेश बोले जाते है। सिक्ख समुदाय में शिशु माँ के साथ गुरुद्वारा ले जाया जाता है जहाँ गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ किया जाता है। जैसे–जैसे शिुश का विकास होता है वैसे–वैसे अन्य अनुष्ठानों का भी आयोजन किया जाता है। ग्रहीय स्थितियों तथा धार्मिक परम्परा को आधार मानकर शिशु का नामकरण किया जाता है तथा कुछ और विकास होने पर अन्न प्राशन का अनुष्ठान किया जाता है। इस अनुष्ठान में शिशु पहली बार अन्न ग्रहण करता है। कुछ हिन्दू एवं मुस्लिम समुदायों में मुण्डन का रिवाज़ है जिसके लिए सम्बन्धित धार्मिक पुजारी की सहायता ली जाती है। मुस्लिम समुदाय में मुण्डन के अवसर पर बकरे की बलि की भी प्रथा है। शिशु का बौद्धिक विकास हो जाने पर उसके धार्मिक शिक्षा हेतु अनुष्ठान आयोजित कराये जाते है। हिन्दू बालकों को धार्मिक दीक्षा प्रदान करने से पूर्व उपनयन संस्कार कराया जाता है जबकि मुस्लिम बालकों के लिये सुन्नत संस्कार का अनुष्ठान होता है।

इसी प्रकार सिक्ख बालकों को धार्मिक दीक्षा प्रदान करने से पूर्व विशेष प्रकार का शरबत बनाया जाता है। ईसाई बालकों को धार्मिक दीक्षा चर्च में प्रदान की जाती है इसके लिए पितिसभा का अनुष्ठान कराया जाता है। अन्य समुदाय भी इसी प्रकार अलग–अलग धार्मिक आयोजन कराते है। यहाँ हमें महिलाओं को धार्मिक दीक्षा प्रदान के लिए आयोजित किये जाने वाले अनुष्ठानों में कमी दृष्टिगोचर होती है। अनेक समुदायों में बालिकाओं के रजस्वला होने पर तथा उनके नाक–कान छेदे जाने के समय अनुष्ठान आयोजित होता है। उल्लेखनीय है कि कुछ समुदाय में बालकों के कान भी छेदे जाते है।

बालक एवं बालिका के वयस्क हो जाने पर विवाह का आयोजन होता है। समाज तथा धर्म घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। विवाह एक दीर्घ अनुष्ठान है जिसमें अनेक रीति–रिवाज सम्मिलित है। वर कन्या के चयन से विवाह की तिथि निर्धारण तथा उस तिथि में वैवाहिक आयोजन का मुहूर्त महत्वपूर्ण है जिसको सुचारू रूप से सम्पन्न करने के लिए पण्डित अथवा सम्बन्धित धर्म के पुजारी की आवश्यकता होती है। यद्यपि इस समय कानूनी विवाह का विकल्प उपस्थित है तथापि धार्मिक परम्परा के विवाह ही अधिक होते है। विवाह में दहेज प्रथा एक सामान्य प्रथा है जो कि अधिकांश समुदाय में कन्या

EXP-001/EXP-006

की ओर से वर को दिया जाता है परन्तु कुछ समुदाय ऐसे होते हैं जिसमें वर के पक्ष की ओर से कन्या के परिवार को धन दिया जाता है। कुछ समुदाय ऐसे भी है जिनमें दहेज का प्रचलन नहीं है। भारत में तलाक, विधवा विवाह, पुनर्विवाह तथा बहुविवाह का प्रचलन है। विवाह के बाद अधिकांश समुदायों में प्रतीक चिह्नों का प्रचलन है जिन्हें महिलाएँ लगाती है। इनमें सिन्दूर सर्वाधिक प्रचलित है।

विभिन्न समुदायों में मृत्यु से जुड़े हुए अनुष्ठान भी आयोजित कराये जाते है। कुछ समुदाय ऐसे हैं जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं इनमें हिन्दू प्रमुख है। हिन्दुओं में 84 लाख योनियों की संकल्पना की गई है जो कर्म के अनुसार मिलती है। इसके विपरीत मुस्लिम तथा ईसाई जैसे समुदायों में पुनर्जन्म की मान्यता नहीं है परन्तु इनमें भी मृत्यु के पश्चात् अनुष्ठान आयोजित किये जाते है। मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले अनुष्ठान का मूल उद्देश्य मृत के आत्मा की शान्ति है। मृतक का शरीर नष्ट करने के लिए भी अलग–अलग समुदायों में अलग–अलग रीति है। हिन्दुओं में शरीर को अग्नि के माध्यम से जलाया जाता है तथा कुछ समुदायों में शरीर को दफनाया जाता है। मृत्यु के पश्चात् सम्बन्धित धार्मिक व्यक्ति के निर्देशन में मृतक की आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना की जाती है। हिन्दुओं में गरुड़ पुराण का पाठ किया जाता है। मुसलमानों में नमाज ए. जनाजा का पाठ किया जाता था। सिक्खों में गुरु ग्रंथ साहिब का पाठ किया जाता है। हिन्दुओं में पिण्डदान तथा दशगात्र आदि की प्रथाएं मौजूद है। कुछ समुदाय तीसरे, दसवें, बारहवें, तेरहवें, चालीसवें वार्षिक दिवस पर मृतक की स्मृति में विशेष आयोजन करते है।

6.3.4 अन्य रीति–रिवाज और अनुष्ठान

मानवीय जीवन चक्र के अलावा मनुष्य अपने जीवन चर्या में भी अनेक नीति–रिवाज एवं अनुष्ठान आयोजित करता है। यात्रा करने से पूर्व, बुआई, कटाई, शिक्षारम्भ, भवन, निर्माण, गृह प्रवेश, नये वाहन लेने, व्यापार आरम्भ करने पर धार्मिक अनुष्ठान एवं पूजा का आयोजन किया जाता है। बीमारियों के शमन के लिए भी चिकित्सकीय पद्धति के अलावा धार्मिक अनुष्ठान किये जाते है। भारत के लगभग प्रत्येक समाज के लोग आनुष्ठानिक रूप से तीर्थ यात्राँ करते है। सभी समुदायों के अपने तीर्थ है। हिन्दुओं में कुंभ स्नान, पवित्र नदियों के स्नान, द्वादश ज्योतिलिंगों का दर्शन, सप्त पुरियों के दर्शन, गया श्राद्ध आदि का महात्म्य है। इसी प्रकार मुस्लिमों में मक्का जाना जीवन का प्रमुख अनुष्ठान होता है। इनके अलावा प्रत्येक समुदाय विशेष त्यौहार पर विशेष अनुष्ठान करता है, जैसे हिन्दू दीवाली, नवरात्रि आदि में, मुस्लिम रमजान में,

EXP-001/EXP-006

ईसाई दिसम्बर के आखिरी सप्ताह में आदि।

6.4 पंथ

पंथ एक अनुशासनरहित स्वैच्छिक संगठन है जिनमें सम्मिलित होने के लिये नियम लचीले होते है। पंथों में विभिन्न प्रकार के धार्मिक एवं सामुदायिक लोग सम्मिलित हो सकते है। पंथ के अपने नियम एवं अनुष्ठान होते है। पंथ को स्वीकार करने वाले अनुयायियों को उन नियमों को मानना पड़ता है। पंथों के उद्भव में सामाजिक, सामुदायिक, धार्मिक अनेक कारकों का योगदान रहा है। वर्तमान युग में आप कई ऐसे पंथों को देख रहे होंगे जो कि किसी व्यक्ति या देवता पर केन्द्रित है। आपने इस्कॉन का नाम सुना होगा जो कि हरे कृष्णापंथ नाम से प्रसिद्ध है। इस पंथ के अनुयायी कृष्ण की आराधना करते हैं, उनका कीर्तन करते हैं तथा भगवद्गीता को जन–जन तक पहुँचाते हैं।

6.5 सम्प्रदाय

सम्प्रदाय धर्म से जुड़ा होकर भी धर्म से भिन्न है। सम्प्रदाय का चयन व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर है। किसी भी धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय जन्म ले सकते है। वस्तुतः धर्म को मानने वालों का एक वर्ग पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक विषय धार्मिक नियमों पर अपना अलग मत रखते हुए नवीन सम्प्रदाय की नींव रखते हैं। धीरे–धीरे इनके नियम स्थायी होने लगते हैं और धर्म के पथ पर ही अग्रसर हो जाते है। यह भी धर्मानुसार आचरण तथा अनुष्ठान करते हैं, भोजन, पहनावें तथा वैवाहिक पद्धति में परिवर्तन के आधार पर स्वयं को भिन्न दिखाने का प्रयत्न करते है।

वर्तमान समय में भारत में कई पंथ, सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय है जिनमें से प्रमुखों की चर्चा निम्नवत् है–

6.5.1 हिन्दू सम्प्रदाय

हिन्दू धर्म में अनेक प्रकार के रीति–रिवाज तथा अनुष्ठान हैं। इनके विरोध से तथा हिन्दू धर्म में देवताओं को आधार बनाकर अनेक पंथ, सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदाय का जन्म हुआ। शिव के उपासक शैव, शक्ति के उपासक शाक्त, विष्णु के उपासक वैष्णव पंथ के सर्जक बने। वैष्णव पंथ अथवा सम्प्रदाय के आराध्य देव विष्णु, राम तथा कृष्ण हैं। वैष्णव के प्रमुख सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदाय श्री सम्पग्रदाय, रामानन्दी, मलूक पंथी, रायदासी, वल्लभाचार्य सम्प्रदाय, मीराबाई सम्प्रदाय, माध्वाचारी, चैतन्य सम्प्रदाय, चरनदासी, साधनापंथी, राधाबल्लभी इत्यादि हैं। इन सभी सम्प्रदायों तथा उप सम्प्रदायों में

EXP-001/EXP-006

अलग–अलग नियम होता है। इनका अलग–अलग तिलक होता है।

शैव सम्प्रदाय में भी अनेक सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इनमें दशनामी, नाथपंथी, लिंगायत, कापालिक आदि प्रमुख है। दशनामी सम्प्रदाय की स्थापना शंकराचार्य ने की जिसमें दस कोटियों के सन्यासी को सम्मिलित किया गया, गिरी, पुरी, भारती, वन, पार्वती, अरण्य, सागर, तीर्थ, आश्रम तथा सरस्वती। इन सन्यासियों को उनके ज्ञान के आधार पर चार कोटि में विभाजित किया– 1. कुटीचाक, 2. बहुदीक, 3. हंस तथा 4. परमहंस। इनमें कुछ सन्यासी अस्त्र धारण करने वाले थे तथा कुछ सन्यासी शास्त्र रखने वाले। अस्त्रधारी सन्यासी अखाड़ों में प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। ये अखाड़े महानिर्वाणी अखाड़ा निरंजनी अखाड़ा, जन या भैरव अखाड़ा, अटल अखाड़ा, आवाहन अखाड़ा, आनन्द अखाड़ा तथा निर्वाणी अखाड़ा थे। इस सम्प्रदाय का नाथपंथ मोक्ष के लिए योग तथा तंत्र का मार्ग अपनाता है। अघोरी पंथ को मानने वाले अपने शरीर पर शमशान की राख का लेपन करते है। वीर शैव अपने शरीर पर चाँदी की डिब्बी में शिवलिंग धारण करते है। कापालिक पंथी तांत्रिक होते हैं जो मृत मनुष्यों का आहार करते है।

शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति की उपासना की जाती है। भगवती, चामुण्डा, दुर्गा, काली, त्रिपुर, सुन्दरी, राधा, राज राजेश्वरी, सीता को शक्ति का रूप माना जाता है जो रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण तीनों की अधिष्ठात्री है। दक्षिणचारी, वामचारी तथा कविलिक इनके प्रमुख सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय है।

इनके अलावा गाणपति सम्प्रदाय तथा सौर सम्प्रदाय आदि भी प्रतिष्ठत है। गाणपति सम्प्रदाय में भगवान गणेश के भिन्न–भिन्न नामों तथा रूपों की उपाासना की जाती है तथा सोर सम्प्रदाय के प्रमुख उपास्य देवता भगवान सूर्य है।

6.5.2 बौद्ध सम्प्रदाय

गौतम बुद्ध ने जिस धार्म्कि सम्प्रदाय की स्थापना की वह बौद्ध सम्प्रदाय कहलाया। बुद्ध के महापरिनिर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् बौद्ध धर्म अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त हुआ जिनमें प्रमुख है– हीनयान, महायान तथा वज्रयान। हीनयान उपसम्प्रदाय को मानने वालों की आस्था त्रिपिटकों में थी तथा वह परिवर्तन में विश्वास नहीं करते थे। महायान बुद्ध की मूर्तियों की उपासना करते थे तथा बोधिसत्व से जुड़े प्रथाओं को अपनी मान्यता में सम्मिलित कर लिया था। इनसे अलग वज्रयान पर तांत्रिक प्रभाव था जो तंत्र के द्वारा मुक्ति मार्ग की बात करता है।

EXP-001/EXP-006

6.5.3 जैन सम्प्रदाय

जैन सम्प्रदाय मुख्यतः दो उपसम्प्रदायों में विभक्त है– दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। दिगम्बर वस्त्र तथा स्त्री को अपने साधना में बाधक मानते हैं जबकि श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते है।

6.5.4 इस्लाम सम्प्रदाय

इस्लाम में अनेक सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय है। सुन्नी, सिया, बोहरा, अहमदिया, बहाबि, इसमाइली आदि इस्लाम के प्रमुख सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय है। सिया तथा सुनी को इस्लाम का मुख्य सम्प्रदाय माना जाता है। सुन्नी की मान्यता है कि वे सुन्ना को मानने वाले हैं। सुन्नी केवल पैगम्बर को मानते हैं तथा कुरान और हदीस पर विश्वास करते है। सिया पैगम्बर तथा हजरत अली को पैगम्बर का उत्तराधिकारी मानते है तथा इमामों को गुरु स्वीकारते हैं।

6.5.5 सिख सम्प्रदाय–

सिख सम्प्रदाय के प्रमुख सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय निरंकारी सम्प्रदाय, राधास्वामी सम्प्रदाय तथा नामधारी सम्प्रदाय है। निंरकारी ईश्वर को निरंकार मानते है तथा यह दस गुरुओं के अलावा भी गुरु परम्परा को स्वीकारते है। राधास्वामी सम्प्रदाय हिन्दू तथा सिख धर्म के मिश्रित नियमानुसार चलता है। नामधारी सम्प्रदाय अपनी उपासना में तेज चिल्लाते है।

6.5.6 ईसाई सम्प्रदाय–

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाई सम्प्रदाय कई सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदाय में विभक्त हुए। इनमें प्रोटैस्टेन्ट, रोमन, कैथोलिक, ईस्टर्न तथा आर्थोडाक्स प्रमुख है। प्रोटैस्टेन्ट केवल बाइबिल की सत्ता स्वीकारते हैं तथा शेष दो बाइबिल के साथ चर्च की परम्परा को भी स्वीकारते हैं।

6.6 सारांश

भारतीय समाज रीति–रिवाज तथा अनुष्ठान से युक्त है। इनमें सामाजिक, सामुदायिक, धार्मिक, पारिवारिक स्तर पर विविधता दृष्टिगोचर होती है। इन पर भौगौलिक प्रभाव भी देखा जा सकता है। जीवन चक्र, मौसम तथा त्यौहारों पर इन्हीं आधार पर अनुष्ठान आयोजित होते है।

पंथ, सम्प्रदाय तथा धर्म के मध्य एक अदृश्य विभाजन रेखा है। कभी–कभी यह विभाजित होकर अपना स्वरूप भूल जाते हैं एवं दूसरा स्वरूप ग्रहण करने लगे है।

EXP-001/EXP-006

6.7 बोध प्रश्न

- रीति–रिवाज एवं अनुष्ठान समाज को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, टिप्पणी कीजिए।
- सम्प्रदाय, धर्म से कैसे भिन्न है, निबन्ध लिखिए।

6.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय परम्परा एवं रीति–रिवाज,
2. बौद्व धर्म के विकास का इतिहास, डॉ.जी.सी. पाण्डे
3. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, डॉ.शिवस्वरूप सहाय

EXP-001/EXP-006

इकाई–7–ललित कलाएँ, नृत्य, सिद्धान्त और तकनीक नृत्य का ऐतिहासिक विकास, भारतीय शास्त्रीय नृत्य

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 ललित कलाएँ

7.4 नृत्य के सिद्धान्त एवं तकनीक

7.4.1 सिद्धान्त

7.4.2 तकनीक

7.5 नृत्य का ऐतिहासिक विकास

7.5.1 साहित्यिक साक्ष्य

7.5.2 पुरातात्विक साक्ष्य

7.6 भारतीय शास्त्री नृत्य

7.6.1 भरतनाट्यम

7.6.2 कत्थक

7.6.3 कत्थककलि

7.7 सारांश

7.8 बोध प्रश्न

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.1 प्रस्तावना

ललित कला के अन्तर्गत कला के सौन्दर्य पक्ष के विशेष आते है। नृत्य भी ललित कला का एक अंग जो मनुष्य की उत्पत्ति को साहित्यिक तथा पुरातात्विक दोनों ही साक्ष्य प्रमाणित करते है। भारत में नृत्य के साथ धार्मिक मान्यतायें भी जुड़ी रही हैं। हिन्दुओं के प्रमुख देवता शिव को नटराज कहा गया। नृत्य एक शारीरिक अभिव्यक्ति है जो संगीत पर की जाती है। नृत्य का विभाजन मुख्यतः शास्त्रीय एवं लौकिक नृत्यों में हुआ है। जहाँ शास्त्रीय नृत्य शास्त्र में वर्णित नियमों से बंधे होते है। वहीं लौकिक नृत्य नियमों में बंधे

EXP-001/EXP-006

नहीं होते थे उमंग तथा उललास में नियम तथा अनुशासन के बिना ही नृत्य करते हैं।

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- भारतीय नृत्य के सिद्धांत एवं तकनीक को समझ सकेंगे।
- भारतीय नृत्य के ऐतिहासिक विकास को जान सकेंगे।
- भारतीय शास्त्रीय नृत्य की शैलियों की विशेषताओं को जान सकेंगे।

7.3 ललित कलाएँ

सौन्दर्यशास्त्र एवं रचनात्मक ज्ञान कौशल को ललित कला की संज्ञा से परिभाषित किया जाता है। ललित कला की एक परिभाषा यह भी है कि वह दृश्य कला जिसे सौन्दर्य एवं बौद्धिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाए वह ललित कला है। मुख्य रूप से ललित कलाएँ रस युक्त होती है। ललित कलाओं के माध्यम से ही कलाकार अपने कलात्मक कौशल को प्रकट करता है।

लालित्य कौशल के माध्यम से ही हम तत्कालीन समय के लोगों में कला के प्रति प्रेम एवं कला कौशल का अनुमान लगा सकते है। ललित कलाएँ व्यक्तिगत रूप से एवं सामूहिक रूप से प्रकट की जाती है। अतः ललित कलाएँ सामूहिक कलाओं को एकीकृत करती है। मुख्य रूप से ललित कलाएँ पाँच प्रकार की होती हैं– चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, वास्तुकला और संगीत इत्यादि पाँच ललित कलाएँ हैं।

ये पाँचों ललित कलाएँ अपने आप में विस्तृत हैं। इन पाँचों प्रकार की कलाएँ अपने विविध रूपों में वर्णित हैं। मानव समाज में कला का विकास मानव के विकास समानान्तर ही हुआ है। आगे आकर जैसे–जैसे मानव सभ्यता विकसित होती चली गयी उसी के साथ–साथ कलाएँ भी उत्कृष्ट होती चली गयी। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य ने जीवन शैली के साथ–साथ लालित्य कला का भी विकास किया।

ललित कलाएँ एवं नृत्य

पाँचों प्रकार की ललित कलाओं में नृत्य प्रमुख कला है। लालित्य कलाएँ किसी राष्ट्र की धरोहर होती हैं। लालित्य कलाएँ उस राष्ट्र की प्राचीन समय की कला कौशल एवं अभिव्यक्ति को प्रकट करती हैं। ठीक उसी प्रकार नृत्यकला है।,

नृत्य : उद्देश्य

सबको विदित हो कि भारत एक सांस्कृतिक समृद्ध राष्ट्र है। भारत अपनी सांस्कृतिक विविधता में एकता के लिए विख्यात है। अंततः भारत की नृत्य कलाओं में भी अत्यधिक विभिन्नताएँ है। भारतीय नृत्य अन्य राष्ट्र के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा है। एक ललित कला के रूप में भारतीय नृत्य में विविध प्रकार हैं। यहाँ हम भारतीय नृत्यकला को समझेंगे–

प्रस्तावना

नृत्य ललित कलाओं का प्रमुख भाग है। नृत्य का विकास मानव सभ्यता के समय से होता आ रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रस्तुत किया जाने वाला नृत्य उस राष्ट्र की नृत्य कौशल का नेतृत्व करता है। सभी राष्ट्रों की अपनी लालित्य धरोहरों में से नृत्य भी एक है। एक राष्ट्र की एक से अधिक नृत्य शैली हो सकती है। नृत्य कला उस राष्ट्र की आन्तरिक मानवी कला वर्ग का परिचय देती है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में नृत्य कला अत्यधिक विविधताओं वाली एवं विस्तृत है। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारतीय नृत्य शैली भारतीय नृत्य कौशल की सूचक है। इसके साथ–साथ भारत में ऐसी और भी नृत्य कलाएँ हैं जो राजकीय एवं स्थानीय लोक रसंस्कृति को प्रदर्शित करती है।

7.4 नृत्य सिद्धान्त और तकनीक

मानव की कलात्मक शारीरिक अभिव्यक्ति नृत्य है। नृत्य रसपूर्ण होता है। मनुष्य अपनी वेशभूषा एवं शारीरिक कलात्मक अभिव्यक्ति से किसी भी रस में नृत्य की प्रस्तुति कर सकता है। नृत्य का विकास मानव के जन्म के साथ ही हुआ है। जैसे–जैसे मानव समझदार होता गया, नृत्य भी विकसित होती चली गयी।

भारतीय लोगों के जीवन में नृत्य सदैव ही एक महत्वपूर्ण कला रहा है तथा आज भी नृत्य भारतीय लोगों के जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग है।

संगीत के शब्दों पर समन्वय बैठाकर शारीरिक अंगों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति नृत्य है। नृत्यकला की महत्ता इस बात से पता लगायी जा सकती है कि ललित कलाओं की अन्य विधाओं जैसे– चित्रकला, मूर्तिकला एवं शिष्यकलाओं में भी नृत्य कला को प्रदर्शित किया गया है। अतः नृत्य कला ललित कला की एक स्वतंत्र विधा होने के साथ–साथ ललित कला की अन्य विधाओं के लिए एक मुख्य आधार भी है।

EXP-001/EXP-006

भारतीय साहित्य में नृत्यकला पर पुस्तकें लिखी गयी है। इसमें नृत्य सिद्धान्त और तकनीक का वर्णन किया गया है। नृत्यकला का प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना जाता है जिसके लेखक प्राचीन आचार्य भरतमुनि है।

भारतीय नृत्य की तकनीक एवं सिद्धान्त एक–दूसरे के पूरक है। नृत्यकला में सिद्धान्तों को तकनीक के साथ संयुग्मित किया जाता है तो वहीं तकनीक को भी सिद्धान्तों के साथ जोड़कर ही विकसित किया गया है।

नृत्य अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली माध्यम है। तकनीकी रूप से नृत्यकला चित्रकला एवं नृत्य के विषय में तो यह भी कहा जाता है कि नृत्य के द्वारा मनुष्य अपने आराध्य को रीझा सकता है एवं अपने कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। नृत्यकला सभी कलाओं को ग्रहण करके समृद्ध होती है तथा अन्य ललित कलाओं का मूल्यांकन कराती है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नृत्यकला को नाट्य का अभिन्न अंग माना गया है। नाट्यशास्त्र में नृत्य के दो भेद बताए गये हैं–

1. नाट्य और नृत्य।

1. नाट्य– नाट्यते अभिनत्वेन रूप्यते इति नाट्यम

2. नृत्य– ताल और लय से संयुक्त अनुकृति को नृत्य कहते है।

नाट्य शास्त्र में अतिभनय के दो विषय वर्णित किये गये हैं। ललित कला में इन्हें एकीकरण रूप में स्वीकार किया गया है। नाट्य के प्रमुख चार अंग है–

वाचिक

सात्विक

आंगिक

आहार्य।

1. वाचक–

उक्ति– प्रयुक्ति की ज्यों कि त्यों अनुकृति वाचिक अभिनय

2. सात्विक–

भावों की प्रस्तुति या प्रदर्शन सात्विक अभिनय

3. आंगिक–

भावप्रदर्शन के लिए शारीरिक अंगों की विविध रूपों में आयामी स्थितियों में प्रस्तुति

EXP-001/EXP-006

आंगिक अभिनय

4. आहार्य–

भौगोलिक स्थिति के अनुरुप वेश–भूषा, रहन–सहन, चालढ़ाल आदि क्रियाएँ आहार्य अभिनय का अंग है।

नृत्य सिद्धान्त की इन्हीं चारों विधाओं को मिलाकर शास्त्रीय नृत्य का निर्माण विधान किया गया है।

भारतीय नृत्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– नृत्य एवं मुखाभिव्यक्ति के साथ नृत्य। जहाँ आंगिक अभिनय को नृत्य या शुद्ध नृत्य कहा जाता है। भारतीय नृत्य की तकनीक पर शरीर की गति पर अधिक बल दिया जाता है। भारतीय नृत्य में भंगिमाओं को विशेष स्थान दिया गया है।

नृत्य सिद्धान्त आधुनिक अध्ययन का विषय है। नृत्य सिद्धान्त की शुरुआत 20वीं सदी के लगभग मानी जाती है। नृत्य सिद्धान्त को नृत्य अनुसंधान का विषय माना जाता है। इसमें नृत्य से सम्बन्धित सभी पक्षों का विस्तारपूर्वक अध्ययन एवं चिंतन किया जाता है। नृत्य सिद्धान्त को कई पक्षों में रखकर समझा जा सकता है–

1. दार्शनिक सिद्धान्त
2. नृत्य कलाकारों का नृत्य सिद्धान्त
3. सामाजिक नृत्य सिद्धान्त
4. चिकित्सकीय रूप में नृत्य सिद्धान्त

1. दार्शनिक सिद्धान्त–

सौन्दर्य शास्त्र से सम्बन्धित नृत्यकला दार्शनिकों के लिए भी विचारणीय विषय है। दार्शनिक कला के महत्व का मूल्यांकन एवं समीक्षा करते है। दार्शनिक समय एवं स्थितियों का मानसिक शोध करके अपना पक्ष रखते है। नृत्यकला के विषय में भी दार्शनिक यही क्रियाकलाप अपनाते हैं।

2. नृत्य कलाकारों का नृत्य सिद्धान्त–

नृत्य प्रस्तुत करने वाले नृत्य कलाकारों का अपना नृत्य सिद्धान्त है। नृत्य कलाकार ताल एवं लय के साथ संगीत पर अपने शारीरिक गति का समन्वय करते हैं। शारीरिक अंगों के द्वारा ही संगीत के शब्दों के अर्थों की भावाभिव्यक्ति करते है। नृत्य कलाकार अपने अनुसार शरीर को आयामी गति देते हैं जिससे उनकी क्रियाओं द्वारा अर्थ

EXP-001/EXP-006

प्रकट होते हैं। नृत्य कलाकारों की नृत्य सिद्धान्त को कोरियोग्राफी कहा जाता है।

3. सामाजिक नृत्य सिद्धांत–

नृत्य सिद्धान्त की यह शाखा समाजशास्त्रियों द्वारा निर्मित की गयी है। वस्तुतः सामाजिक नृत्य सिद्धान्त दार्शनिक नृत्य सिद्धान्त से मेल खाती है किन्तु इस सिद्धान्त में दार्शनिक सिद्धान्त से भिन्नता है।

समाजशास्त्री नृत्य को संस्कृति एवं समाज से जोड़कर नृत्य की क्रियाओं का अध्ययन एवं शोध करते है। सामान्यतः नृत्य शैलियाँ एवं नृत्य शैलियों की विशेषताएँ उस शैली से जुड़े समाज और स्थानीयता का परिचय देती हैं। नृत्य के क्षेत्र में भारत में उतनी ही भिन्नताएँ है जितनी की यहाँ भाषा में भिन्नता है। सम्भवतः नृत्य की अलग–अलग विधायें अपनी अलग–अलग सामाजिकता का सूचक होती है।

4. चिकित्सकीय नृत्य सिद्धान्त–

चिकित्सा के क्षेत्र में नृत्य सिद्धान्त एक नवीन विषय है। हम सबको ज्ञात है कि नृत्य दृश्य कला के साथ–साथ मनोरंजन का विषय है। मनोरंजन का सम्बन्ध मानसिक स्थिति से है। मनुष्य के अच्छे स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्थिति का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए मनोरंजन के रूप में मनोवैज्ञानिक कारणों से नृत्य को चिकित्सा के क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है। मनोस्थिति की सुगमता के साथ शारीरिक रूप से व्यायाम की दृष्टि से भी नृत्य को चिकित्सा में सम्मिलित किया गया है। अन्ततः नृत्यकला में शरीर का अच्छा व्यायाम हो जाता है।

नृत्य का ऐतिहासिक विकास

मानव सभ्यता में नृत्य अत्यन्त प्राचीन कला है। सम्भवतः नृत्य का विकास मनुष्य के विकास के साथ–साथ हुआ है। मनुष्य जब शिशु रहता है और बोल नहीं पाता तब अपने अंगों के द्वारा ही अपने भाव को प्रकट करता है। नृत्य के द्वारा भावाभिव्यक्ति करना इसी सिद्धान्त का अंग है।

ऐतिहासिक दृष्टि से नृत्य का प्रमाण आदिमानवों द्वारा निर्मित या उकेरे गये चित्रों से मिलता है जो गुफाओं की दीवारों पर अंकित है। इसके अतिरिक्त नृत्य का इतिहास हड़प्पाकालीन संस्कृति में भी मिलता है। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों में खुदाई कांस्य की नर्तकी की मूर्ति प्राप्त हुयी है जिससे नृत्य के महत्व का पता चलता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय ऐतिहासिक साहित्य में नृत्य के महत्व का वर्णन किया गया है। वैदिक साहित्य में यजुर्वेद में नृत्य से सम्बन्धित ऋचाएँ हैं। ऐतिहासिक रूप से

EXP-001/EXP-006

नृत्य व्यायाम का एक साधन था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रंथ पुराण, रामायण एवं महाभारत में भी नृत्य की चर्चा की गयी है। हिन्दू देवी–देवताओं के नृत्यों के आख्यान प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। जैसे भगवान विष्णु का मोहिनी रूप। इसी के साथ ताण्डव नृत्य जो कि भगवान शिव से सम्बन्धित है।

नृत्यकला एक ऐसी ललित कला है जो किसी को भरी अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। नृत्य का आकर्षण एक मनोवैज्ञानिक विषय है, मनोरंजक के साथ, चारों पुरुषार्थों के प्राप्ति का साधन भी है। नृत्य में मग्न होकर ध्यान करके मनुष्य अपने परमानन्द एवं मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकता है। ऐतिहासिक रूप से नृत्य के विषय में अनेक ग्रंथों में नृत्य से सम्बन्धित आख्यान या प्रसंग मिलते हैं किन्तु नृत्य की तकनीक सिद्धान्त एवं आयाम का वर्णन प्राचीन ग्रंथ नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र नृत्य का व्याख्यात्मक ग्रंथ है। नाट्यशास्त्र में ही नृत्य का अभिनय का विषय माना गया है। भरतमुनि द्वारा लिखित नाट्यग्रंथ नाट्यशास्त्र के पश्चात् नृत्य के विषय में और भी ग्रंथों की रचना की गयी तथा नाट्यशास्त्र पर टीका भी लिखा गया है।

अन्ततः ऐतिहासिक रूप से नृत्यकला मानव के उद्भव के साथ ही प्रकट हुआ और मानव के विकास के साथ ही विकसित हुआ।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य

भारतीय नृत्य में उतनी ही विविधता है जितना की भारतीय संस्कृति में। भारत में नृत्यकला स्थानीय संस्कृति का प्रमुख अंग है। नृत्य की भिन्नता की दृष्टि से भारतीय नृत्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. शास्त्रीय नृत्य
2. लोकनृत्य

इसके अतिरिक्त भारतीय सिनेमा में नये प्रकार की शैली में नृत्य की प्रस्तुति की जाती है। भारतीय सिनेमा में दिखाया जाने वाला नृत्य भारतीय लोक नृत्य एवं पाश्चात्य नृत्य का समन्वय होता है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य की प्रस्तुति विशिष्ट होती है। शास्त्रीय नृत्य के लिए विशेष रूप से अभ्यास मार्गदर्शन एवं वेशभूषा आदि का ध्यान रखा जाता है।

नाट्य ग्रंथों के अनुसार शास्त्रीय नृत्य की शैलियों की संख्या आठ मानी गयी है। इस मान्यता को भारतीय कला संरक्षक की मुख्य संगठन संगीत नाटक अकादमी महत्व देती है। शास्त्रीय नृत्य परम्परात्मक रूप से खेत्रीय विशिष्टता को इंगित करती है।

EXP-001/EXP-006

भारतीय शास्त्रीय नृत्य निम्नलिखित हैं–

1. भरतनाट्यम् (तमिलनाडु)
2. कथक (उत्तर भारत)
3. कुचिपुड़ी (आंध्र प्रदेश)
4. ओडिसी (ओडिशा)
5. कथकली (केरल)
6. मणिपुरी (मणिपुरी)
7. मोहिनीअट्टम् (केरल)
8. सत्रिया (असम)

उपरोक्त सभी नृत्यकला की शैलियाँ विशिष्ट क्षेत्रीयता से जुड़े हुए है। इन सभी नृत्य शैलियों की नृत्य करने की अपनी अलग–अलग आयाम है। वास्तव में भारतीय शास्त्रीय नृत्य केवल नृत्य नहीं होते अपितु नाटक एवं नृत्य का अभिनय एक साथ प्रस्तुत किया जाता है। शास्त्रीय नृत्य शैली में एक कलाकार को अत्यधिक अभ्यास कराया जाता है ताकि संगीत, नाटक एवं नृत्य समन्वय सही ढंग से हो सके। शास्त्रीय नृत्य में पोशाक का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। सभी शास्त्रीय नृत्यों को करने के लिए प्रायः अलग–अलग प्रकार के पोशाक को पहना जाता है।

शास्त्रीय नृत्यों की व्याख्या–

संगीत नाटक अकादमी द्वारा मान्यता प्राप्त आठ शास्त्रीय नृत्य निम्नलिखित हैं–

1. भरतनाट्यम्–

भरतनाट्यम् भारतीय शास्त्रीय नृत्य की एक प्रसिद्ध नृत्यशैली है। इस नृत्य शैली का सम्बन्ध दक्षिण भारतीय राज्य तमिलनाडु से है। यह नृत्य शैली मुख्यतः नृत्य एवं नायक का समन्वय किया गया है– 1. भावम्, 2. रागम्, 3. तालम् इन तीनों कलाओं के प्रथम शब्द को लेकर भारत और अभिनय प्रधान होने के कारण नाट्यम आदि शब्दा को लेकर इस नृत्य शैली का नाम भारतनाट्यम रखा गया है। इस शेली का सधिर अट्टम भी कहते हैं।

भारतनाट्यम् नृत्य की सबसे प्राचीन शैली है। इस नृत्य शैली का विकास दक्षिण भारत की मंदिरों की देवदासियों द्वारा किया गया था। आधुनिक समय में भी यह नृत्य सर्वाधिक महिलाओं द्वारा ही किया जाता है। भारतनाट्यम को दो भागों में प्रस्तुत किया

EXP-001/EXP-006

जाता है– 1. नृत्य, 2. नाटक (अभिनय)। भारतनाट्यम् में शरीर त्रि–आयामी या त्रिभुजाकार स्थिति में होता है। इसके साथ भारतनाट्यम शास्त्रीय संगीत पर ही प्रस्तुत किया जाता है और संगीत के बोल संस्कृत, तमिल या तेलगु भाषा में होते है। भारतनाट्यम प्रस्तुत करने वाले कलाकार की वेशभूषा पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। नृत्य के लिए साड़ी को विशिष्ट रूप से पहना जाता है एवं पैरों में घूँघरू बांधा जाता है। इसके साथ अन्य आभूषण जैसे–कमरबन्द, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, हार, नथनी एवं शीशहार तथा अन्य और भी आभूषण सम्मिलित होते हैं।

2. कथक

कथक नृत्य भारतीय शास्त्रीय नृत्य की एक प्रसिद्ध एवं प्राचीन शैली है। कथक भी अभिनय प्रधान नृत्य है। नृत्यकला की कथक शैली उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचलित है। कथक को दरबारी नृत्य भी कहा जाता है। कथक नृत्य शैली में नृत्य और नाट्य को मिश्रित रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

मध्यकालीन भारत में मुस्लिम शासनकाल होने के कारण कथक पर अरैबियन एवं पार्शियन नृत्य शैली का प्रभाव पड़ा एवं यह नृत्य शैली शासकों के लिए मनोरंजन का साधन बन कर दरबारी नृत्य कला हो गया।

प्रारम्भ में कथक एक सामान्य नृत्य की भाँति होता था इसमें कोई तकनीक नहीं थी न ही शास्त्रीय पक्ष था किन्तु ब्राह्मणों के अध्यात्मवाद के उदय के पश्चात् कथक नृत्य शैली एक शास्त्रीय नृत्य शैली के रूप में विकसित हुयी।

कथक शब्द का विकास भी कथा से माना जाता है। प्राचीन काल में कथाओं को अभिनय एवं नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जाता था तत्पश्चात् इस नृत्य शैली का नाम ही कथक कर दिया गया। प्रारम्भ में कथक को कथात्मक रूप में ही अभिनित किया जाता था। कालान्तर में इसमें गायन को भी सम्मिलित किया गया।

3. कुचिपुड़ी

कुचिपुड़ी मुख्य रूप से आन्ध्रप्रदेश की नृत्यशैली है। इसका उद्‌भव एवं विकास आन्ध्रप्रदेश के कुचेलापुरम् नामक गांव से हुआ तथाकथित इस नृत्य शैली का नाम ही कुचिपुड़ी रखा गया। मुख्यतः कुचिपुड़ी एक स्थानीय नृत्य शैली है। इस नृत्य शैली के अन्य गुण धर्म भारतनाट्यम के समान हैं या मिलते–जुलते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से कुचिपुड़ी मुख्यतः पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। केवल ब्राह्मण समुदाय के लोग कुचिपुड़ी की प्रस्तुति करते थे। ब्राह्मणों के सारे कार्य ईश्वर को समर्पित थे। अतः अपने आराध्य को रीझाने के लिए नृत्य करते थे। प्रारम्भिक समय में

EXP-001/EXP-006

इस नृत्य में महिलाओं को प्रवेश नहीं दिया गया था।

कुचिपुड़ी भी एक नाटकीय नृत्य है। इसमें भी नृत्य और नाटक एक साथ प्रस्तुत किये जाते है। सामान्य रूप से कुचिपुड़ी एकल व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नृत्य है। प्रारम्भ में यह नृत्य शैली सामूहिक रूप से प्रस्तुत किया जाता था। कुचिपुड़ी के लिए शास्त्रीय कर्नाटक संगीत पर नृत्य किया जाता है तथा गाने के बोल तेलगु भाषा में होते हैं। कुचिपुड़ी नृत्य में सभी भूमिकाएँ पुरुष ही निभाते थे। आज के समय में कुचिपुड़ी नृत्य शैली में महिलाएँ प्रस्तुति देती हैं। कुचिपुड़ी नृत्य का अभ्यास अत्यन्त जटिल होता है, इसके लिए कलाकार को निरन्तर एवं अधिक प्रयास करना होता है।

4. ओडिसी

ओडिसी नृत्य उड़ीसा राज्य से सम्बन्धित नृत्य है। यह उड़ीसा का स्थानीय नृत्य भी माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से यह सबसे प्राचीन शास्त्रीय नृत्यों की श्रेणी में रखा गया है। ओडिसी नृत्य का जन्म भी मंदिरों में ही हुआ था। यह नृत्य भी देवदासियों द्वारा ही मंदिरों में किया जाता था। ओडिसी नृत्य की प्राचीनता का पता इसी बात से लगाया जा सकता है कि वृहदेश्वर एवं कोर्णांक के सूर्य मंदिर के शिलालेखों पर अंकित है एवं नृत्य की स्थितियों को मूर्ति के रूप में निर्मित किया गया है। इन मंदिरों की दीवारों पर नृत्य की अनेक मुद्राओं को गढ़ा गया है।

ओडिसी नृत्य भी अन्य भारतीय शास्त्रीय नृत्य के समान नाटकीय नृत्य है। ओडिसी नृत्य में भी काल्पनिक अर्थात् तीन भागों में शरीर को स्थिति दी जाती है। हाथ और पैर की मुद्राओं पर विशेष अभ्यास किया जाता है। इस नृत्य कला में वेशभूषा और भावाभिव्यक्तियाँ भारतनाट्यम के समान होती है। ओडिसी नृत्य में मुख्यतः भगवान कृष्ण की लीलाओं एवं कथाओं पर अभिनय और नृत्य किया जाता है। इस नृत्य के अत्यधिक लोकप्रिय आराध्य भगवान जगन्नाथ हैं तथा इस नृत्य में ओडिशा के परिवेश का रूप भी देखने को मिलता है। ओडिसी नृत्य को एकल एवं युगल दोनों रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। इसके गीत मुख्य रूप से संस्कृत में होते है।

5. कथकली

कथकली केरल राज्य का स्थानीय एवं शास्त्रीय नृत्य है। यह शास्त्रीय नृत्य भी नाटिका नृत्य ही है किन्तु अन्य शास्त्रीय नृत्य से इसमें बहुत भिन्नता है। इस नृत्य में नर्तक पौराणिक चरित्रों पर अभिनय करते हैं। कथकली नृत्य के परिधान एवं आभूषणों की डिजाइन बिल्कुल भिन्न होती है। परिधान मुख्यतः उभरा हुआ एवं आभूषण अत्यधिक भरे हुए एवं मुकुट का भी प्रयोग होता है। प्रारम्भ के कथकली नृत्य को केवल पुरुष ही

EXP-001/EXP-006

करते थे तथा पुरुष ही स्त्री की भूमिका भी निभाते थे।

कथकली एक मूक नृत्य है इसमें सारी भावाभिव्यक्ति चेहरे के माध्यम से ही की जाती है। गीत के बोल से समन्वय बनाने के लिए चेहरे के अंगों जैसे– आंख, दाढ़ी एवं गालों पर विशिष्ट सज्जा किया जाता है। कथकली की गायन शैली सोपान के रूप में होती है। संगीत की गति अत्यन्त धीरे होती है। इसमें राग और ताल अभिनेता की सुविधानुसार बजाते है। कथकली के लिए गाया जाने वाला संगीत मुख्य रूप से मलयालम भाषा में होते हैं। नृत्य की इस शैली में हाथों के इशारे के साथ–साथ नेत्र के इशारों का व्यापक प्रयोग किया जाता है।

6. मणिपुरी नृत्य

मणिपुरी नृत्य पूर्वोत्तर राज्यों की पहचान हैं। यह मुख्यतः मणिपुर राज्य से सम्बन्धि शास्त्रीय नृत्य है। यह नृत्य मुख्य रूप से मेइटी जनजातियों द्वारा किया जाता है जिसमें मेइटी जनजाति की अपनी लोककथा एवं परम्परा है। मणिपुरी नृत्य शैली नृत्य की अन्य शास्त्रीय शैली से भिन्न होती है। इस शैली में शरीर को बहुत धीमी गति से चलायमान किया जाता है।

इस नृत्य को रास–नृत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। संगीत के लिए छन्दों का चयन विष्णु पुराण, भागवत पुराण तथा गीत–गोविंदम से लिए जाते हैं। मणिपुरी नृत्य की वेश–भूषा एवं परिधान–आभूषण बिल्कुल भिनन होते हैं। चेहरे पर कोई विशेष सज्जा नहीं की जाती तथा आभूषणों की आकृति में परिवर्तन रहता है। इसके लिए परिधान उभरे हुए और चौकोर मणिपुरी स्कर्ट होता है तथा इस नृत्य कला में दुपट्टे को सिर पर रखा जाता है। यह एक सामूहिक नृत्य शैली है।

7. मोहिनीअट्टम्

मोहिनी अट्टम केरल का शास्त्रीय नृत्य है। जो कथकली के समान है। मोहिनी अट्टम का कथानक पौराणिक होता है। मुख्य रूप से भगवान विष्णु के मोहिनी रूप को समर्पित होता है। मोहिनीअट्टम् केरल की महिलाओं द्वारा किया जाता है। मोहिनी अट्टम का अर्थ ही है ऐसी महिला जो किसी का भी मन मोह ले। इस नृत्य शैली का विकास भी मंदिरों में ही हुआ। इस नृत्य में नृत्यांगना अपने हाथों एवं पैरों से ताल के साथ समन्वय बनाती है। इस नृत्य की प्रस्तुति भारतनाट्यम के समान की जाती है। इसके परिधान एवं आभूषण सादे होते है। नृत्यांगना को सफेद साड़ी, जिसकी बॉर्डर या किनारी पीली रंग की होती है, पहनायी जाती है। मुख्य रूप से यह एकल नृत्य है किन्तु अब यह सामूहिक रूप में किया जाता है।

EXP-001/EXP-006

8. सत्रिया

सत्रिया नृत्य मुख्य रूप से असम का शास्त्रीय नृत्य है। इस नृत्य को 2000 ई0 में भारतीय शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में रखा गया था। इस नृत्य को असम के सत्र नामक मठों में प्रस्तुत किया जाता था। इस कारण इसका नाम ही सत्रिया कर दिया गया। इस नृत्य की शैली अर्थात् मठों में ही विकसित हुयी।

यह भी एक नाटकीय नृत्य शैली है। सामान्यतः इसका आधार पौराणिक कथाएँ होती हैं। मुख्यतः यह नृत्य पुरुष भिक्षुओं द्वारा ही किया जाता था किन्तु अब यह नृत्य महिलाओं द्वारा भी किया जाता है। सत्रिया नृत्य को भी नृत्य एवं नाटक दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है। सत्रिया नृत्य के परिधान और आभूषण अत्यन्त सामान्य होते हैं।

7.7 सारांश

मनुष्य की सभ्यता के साथ आरम्भ हुई नृत्य कला का एक महत्वपूर्ण अंग बन गई जो मनुष्य के विकास के साथ परिष्कृत होती गयी तथा तकनीक एवं सिद्धान्तों में लिपिबद्ध होती गयी। भारतीय शास्त्रीय नृत्य पर्यटकों के आकर्षक का प्रमुख कारण हैं। इसमें स्थानीयता तथा प्राचीनता दोनों तत्त्वों की उपस्थिति है।

7.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ललित कला पर टिप्पणी कीजिए।
2. भारतनाट्यम, कत्थक और कत्थककली नृत्य के संरचनात्मक संघटन पर टिप्पणी कीजिए।

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय ललित कलाएं (एक परिचय) देवीलाल सामर, नक्षत्र प्रकाशन,उज्जैन,1952

EXP-001/EXP-006

इकाई–8–भारतीय संगीत : उद्भव विकास, वर्गीकरण, संगीत के अनिवार्य तत्व

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 संगीत की उत्पत्ति

8.3.1 भारतीय धर्म, दर्शन में संगीत

8.3.2 लोक व्यवहार में संगीत का योगदान

8.4 भारतीय संगीत की परिप्रेक्ष्य में क्रम विकास का संक्षिप्त इतिहास

8.4.1 वैदिक युग में संगीत

8.4.2 उत्तर वैदिक युग में संगीत

8.4.3 शिक्षा और ब्राह्मण ग्रंथों में संगीत की अवधारणा

8.4.4 पुराणों में संगीत

8.4.5 महाकाव्यों में संगीत की संकल्पना

8.5 बौद्ध काल से तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत का इतिहास और विकास

8.5.1 बौद्ध काल में संगीत

8.5.2 जैन काल में संगीत

8.5.3 मौर्य तथा शुंग युग में संगीत

8.5.4 गुप्तकाल में संगीत

8.5.5 वर्धनकाल में संगीत

8.5.6 सातवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक संगीत

8.6 चौदहवीं शताब्दी से आधुनिक काल में संगीत

8.7 सन्दर्भ सूची

EXP-001/EXP-006

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई संगीत पर केन्द्रित है। सामान्यतः संगीत का नाद ही संपूर्ण सृष्टि का सृजनकर्ता है। उस प्रथम ध्वनि के प्रस्फुटन से ही ब्रह्माण्ड का निकाय का स्पंदन की स्फूरण प्रसारित हुआ। शिशु के जन्म से लेकर मृत्यु तक शब्दों से उत्पन्न हुई ये लयबद्ध यात्रा संगीत की सरिता का प्रवाह बन जीवन को चलायमान करती है। वामो, नदियो, पहाड़ों तथा झरनों में निकलता उनकी आवाज संभवतः ध्वनि हो सकता है लेकिन यह ध्वनि सार्वभौमिक और अटूट बंधन निर्मित होता है। यह सभ्यता संस्कृति संगीत की जननी मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक जीवन को लयमय करती है। संगीत के अव्ययों का ज्ञान लेकर संगीत को समझा जा सकता है। भारतीय परंपरा एवं मान्यता के नुसार संगीत की उत्पत्ति वेदों के निर्माता ब्रह्मा से मानी जाती है। ब्रह्मा को यह कला भगवान शंकर से प्रापत हुई विद्वानों ने प्रकृति की ध्वनि को लयबद्ध कर संगीत का नामकरण किया।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- संगीत के विभिन्न पहलुओं से परिचित हो पाएंगे।
- संगीत को जानने तथा समझने का प्रयत्न करेंगे।
- संगीत की विकास की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- भारतीय शास्त्रीय संगीत के विकास के इतिहास को मौखिक या लिखित रूप में व्यक्त करने में सक्षम होंगे।

8.3 संगीत की उत्पत्ति

संगीत सभ्यता की धड़कन होती है। संगीत से ही किसी संस्कृति का स्पंदन विश्व हृदय तक गुंजायमान होता है। भारतीय संगीत का इतिहास बहुत जटिल है। इसका उद्भव शास्त्रीय संगीत से हुआ और इसमें पश्चिमी तत्व समाहित हो गए और यह संयोजन हमारी आत्मा के साथ प्रतिध्वनित होता है। हमें पहली बार दो हजार वर्ष पूर्व वैदिक काल में संगीत का साहित्यिक प्रमाण मिलता है। राग खरहरप्रिया के सभी सातों स्वर सामवेद को अवरोही क्रम में पाए जा सकते है। संगीत विज्ञान को गंधर्ववेद कहा जाता है। यह सामवेद का एक उपवेद है। वीणा के कुछ भागों का उल्लेख ऐतरेय आरण्यक में आता है। जैमिनी ब्राह्मण सामूहिक रूप नृत्य और संगीत की बात4 करते है।

EXP-001/EXP-006

कुछ संगीतविद् भी कहते है कि सबसे प्रारंभिक राग सामराग था। उन्होंने ओम शब्द को सभी रागों और स्वरों का स्रोत होने के विषय में सिद्धांत प्रतिपादित किया है। 500 ईसा पूर्व में पाणिनी ने संगीत कला का पहला वास्तविक संदर्भ दिया। वस्तुतः संगीत की कल्पना इतिहास के दृष्टिकोण से जैसी भी रही हो लेकिन व्यवहारिक जीवन में इसकी उपस्थिति जीवन को मधुर करती है। संगीत की उत्पत्ति का ठोस पता लगाना इसलिए भी आसान नहीं है कि यह आदिकाल से जीवन का अंग रहा है।

8.3.1 भारतीय धर्म, दर्शन में संगीत

धर्म तथा संगीत का एक–दूसरे से आत्मिक संबंध होता हैं दोनों का ही लक्ष्य परमात से एकाकार होना होता है। हिन्दू धर्म में संगीत को मोक्ष प्राप्त करने का एक साधन माना जाता है। भारतीय ऋषियों ने ऐसी सैकड़ो ध्वनियों को खोजा, जो प्रकृति में पहले से ही विद्यमान है। संगीत से मन, मस्तिष्क में एक शांति का भाव उत्पन्न होता है। संगीत और दर्शन दोनों ही मानवीय मूल को उत्प्रेरित कर उच्चता का बोध कराते है। संगीत तथा धर्म का साहचर्य मानव जीवन तथा संस्कृति में आदिकाल से चला आ रहा है। प्रारंभ से ही मानवन जीवन के साथ–साथ संगीत और धर्म किसी–न–किसी रूप में बराबर साथ रहा है। प्रारंभिक धर्मों में भी जबकि धार्मिक भावना का विकास इतना अधिक न हुआ था और न ही ईश्वर की धारणा का ही विकास हो पाया था, उस समय भी धार्मिक कृत्यों के साथ संगीत का समन्वय माना जाता है। ईश्वर को याद रखने का सर्वोत्कृष्ट उपाय कदाचित संगीत ही है। संगीत का मानव मस्तिष्क पर ऐसा प्रभुत्व है जो क्षण भर में ही इसके चित को एकाग्रता प्रदान कर देता है। इसलिए सन्त, गायक, त्यागराज की प्रस्तुति ''नौपसुधा'' का दृष्टांत इस प्रकार है–

''हर ध्वनि ओम से उत्पन्न हुई है। वेदों, आगमो, शास्त्रों तथा पुराणों का यह सार तत्व (संगीत) आपके सभी दुखों को दूर कर आपको परमानंद प्रदान कर सकता है।

भारत में अध्यात्म तथा संगीत का अटूट संबंध रहा है। भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में मगर बात की जाय तो हमारे ऋषि मुनियों ने वैदिक काल से ही मोक्ष तक पहुंचाने का साधन बताया और देशी तथा मार्गी संगीत में विभाजित कर इसके उद्देश्यों को निश्चित किया। मार्गी संगीत का उद्देश्य जहां मोक्ष प्राप्ति था वही देशी संगीत का जनसाधारण का मनोरंजन था। भारतीय संगीत प्राचीन काल से ही धर्म के संरक्षण में उद्भृत हुआ तथा पला बढ़ा। संगीत जहां मानव की आत्मा का विकास करता है वही इससे उठने वाली तरंगे नाद द्वारा मानव मन शरी तथा आत्मा सभी को एकसूत्र में पिरोन का कार्य भी करता है।

EXP-001/EXP-006

8.3.2 लोक व्यवहार में संगीत का योगदान

मनुष्य समाज की एक इकाई है। मनुष्य से ही समाज निर्मित होता है। संगीत का समाज से घनिष्ठ और अटूट संबंध होता है। संगीत समाज का प्रतिनिधित्व करता है। संगीत हमारें जीवन का अभिन्न अंग है। परन्तु फिर भी संगीत के प्रति हमारी आधुनिक क्षीण दृष्टिकोण को हम नहीं देख पा रहे है। इस दृष्टिकोण में संगीत केवल मनोरंजन करने वाला एकतत्व रह गया है और कुछ नहीं। समाज में संगीत मनोरंजन से लोगों को प्रभावित करता है। यदि हम नागरिक समाज से निकलकर कुछ लोकसंस्कृति का अध्ययन करे तो हम यह अनुभव करने लगेंगे की संगीत मात्र मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि लोक सौहार्द का अनुपम संरचित ह्नदयस्पंदन है। जो लोक में सभी आत्मिक तथा व्यवहारिक आयामों को जोड़ने का कार्य करता है। साथ ही साथ यह अन्य सभी तत्वों को मुखर कर अभिव्यक्त करता है जो सामान्य रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकी है। संगीत समाज की आत्मा का भाव है। गांवों में संगीत का प्रयोग कामों के दौरान काम को सहज तथा सरल भाव से बद्ध होकर करने के लिए किया जाता था। काम में सरलता बनी रहे तथा काम शीघ्रता से सम्पन्न हो सके। जैसे पीसते, कूटते तथा व्यवहारिक वैवाहिक आयामों में इनका प्रयोग किया जाता था। लोक व्यवहार में संगीत का इसी तरह महत्वपूर्ण भूमिका था।

8.4 भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में क्रम विकास का संक्षिप्त इतिहास

भारतीय संगीत का प्राचीनता को चुनौती देता है क्योंकि इसके काल की शुरुआत कब और कहां हुई इसका निर्धारण कर पाना तनिक कठिन कार्य है। भारतीय संगीत प्राचीन काल से भारत में सुना विकसित हुआ है। इस संगीत का प्रारंभ भी वैदिक काल से शुरु होता है क्योंकि इतिहास का लिखित साक्ष्य भी वैदिक काल से ही शुरु माना जाता है जोकि पढ़ा जा सकता है। पंडित शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर ग्रंथ में भारतीय संगीत की परिभाषा ''गीतम्, वापयम् तथा नृत्य त्रयम संगीतमुच्यते। गायन, वाद्य वादन एवं नृत्य तीनों कलाओं का समावेश संगीत शब्द में माना गया है। भारतीय संगीत का दो रूप प्रचलित है। दक्षिण भारत में कबीर के संगीत तथा शेष भारत में भारतीय संगीत। भारतीय संगीत काल में हुए विविध परिवर्तन कोई नवीन बात नहीं ही समय–समय पर इसके रूपों में परिवर्तन हुए है। आधुनिक काल में अब हमारे पास नए प्रयोग करने वाली आधुनिक तकनीकी प्रयोगशालाएं है जहाँ कृत्रिम ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु जो मधुरता मौलिक ध्वनि में है वो कृत्रिम ध्वनि में नहीं है।

इस तरह संगीत की प्रक्रिया चलती रही है। अपने उद्‌भव से ही संगीत के विकास की प्रक्रिया अंतहीन रही है। 21वीं सदी में संगीत उद्योग के तीव्र विकास के लिए कई

EXP-001/EXP-006

प्रयास किए गए है। ऐसे संस्थान हैं जो छात्रों को संगीत सिखाते हैं तथा इस विषय में उन्हें सैद्धांतिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि उपलब्ध कराते है। भारतीय संगीत के विकास का अध्ययन करने के लिए हमें भारतीय संगीत के इतिहास का तीन भागों का अध्ययन करते हैं–

1. वैदिककाल से महाकाव्य काल तक
2. महाकाव्य काल से 13वीं शताब्दी तक
3. चौदहवीं शताब्दी से आधुनिक काल तक

8.4.1 वैदिक समय में संगीत

वेद–

वेदों को भारत का सबसे प्राचीन लिखित साक्ष्य माना जाता है। वेद शब्द एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है ज्ञाता वेद अपितु लिखित ज्ञान नहीं है। परन्तु यह अंतदृष्टि से उपजा अंतःज्ञान है जो ऋषि मुनि, संतों के दिव्य आलोक से उत्पन्न हुआ। भारतीय संगीत का आदिरूप वेदों में मिलता है। वेद के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है किंतु उसका काल ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व या इस पर प्रायः विवादास्पद स्थिति है।

वेदों में वाण, वीणा और कर्करि इत्यादित हेतु वाद्यों का उल्लेख मिलता है। अवनद्ध वाद्यों में दुदुंभि, गर्गर इत्यादि का, घनवाद्यों में आघाट या आघाटि और सुषिर वाद्यों में ठाकुर, नाड़ी, तूणव, शंख आदि का उल्लेख है। यजुर्वेद में 30वें कांड के 19वें और 20वें मन में कई वाद्य बनाने वालों का उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक कई प्रकार के वाद्य वादन का व्यवसाय हो चला था। सामवेद की ऋचाएँ भारतीय संगीत का सबसे पहला उदाहरण है।

वैदिक काल के प्रारंभ में हमें केवल एक स्वर के साथ–साथ गान गाने का संदर्भ मिलता है जिसे अधिक गान के रूप में जाना जाता था। बाद में इन्हीं स्वरों का उपयोग करते हुए साम का गान करने का संदर्भ मिलता है जिसे गाधिक कहते है और बाद में तीन स्वरों के साथ साम गान किया जाता था जिसे सामिक कहा जाता था। बाद में इन तीन स्वरों ने धीरे–धीरे चार और स्वरों को जन्म दिया और इस प्रकार सप्तक का निर्माण हुआ। धीरे–धीरे गान चार, पाँच, छह और सात स्वरों के होने लगे। छह और सात स्वरों के तो बहुत कम साम मिलते है। अधिक साम तीन से पाँच स्वरों तक के मिलते है। साम के यमो (स्वरों)की जो संज्ञाएं हैं उनसे उनकी प्राप्ति का क्रम पता चलता है जैसा कि

EXP-001/EXP-006

सामगायकों को स्पष्ट रूप से पहले ''ग रे स'' इन तीन स्वरों की प्राप्ति हुई। इनका नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय क्रम में थें। इनके अनंतर नि की प्राप्ति हुई जिसका नाम चतुर्थ हुआ। इन चारों स्वरों के नाम संख्यात्मक शब्दों में है। इनके अनंतर जो शब्द मिले वे उनके नमा वर्णनात्मक शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। इससे इस कल्पना कि पुष्टि होती है कि इनकी प्राप्ति बाद में हुई। ''गांधार'' से एक ऊँचे स्वर ''मध्यम'' की भी प्राप्ति हुई जिसका नाम ''क्रूष्ट'' (जोर से उच्चारित) पड़ा। निषाद से एक नीचे का स्वर जब प्राप्त हुआ तो उसका नाम मंद (गंभीर) पड़ा। जब इसके नीचे एक और स्वर की प्राप्ति हुई तो उसका नाम पड़ा। ''अतिस्वार तथा अतिस्वार्थ। इसका अर्थ है स्वरण (ध्वनन) की अंतिम सीमा।

संभाव्य स्वरों के नियम क्रम का जो समूह है वह संगीत में साम कहलाता है। यूरोपीय संगीत में इसे ''स्केल'' कहा जाता है।

हम देख सकते हैं कि धीरे–धीरे विकसित होकर साम का पूर्ण ग्राम इस प्रकार बना–

क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, मेह, अतिस्वार्थ।

साम का ग्राम अवरोही क्रम का था। नीचे सामग्राम और आधुनिक संज्ञाओं का सारणी में दिया गया है।

साम आधुनिक

क्रुष्ट – मध्यम (म)

प्रथम – गांधार (ग)

द्वितीय – ऋषभ (रे)

तृतीय – षड्ज (रन)

चतुर्थ – निषाद (नि)

मंद्र – धैवत (ध)

अतिस्वार्थ – पंचम (प)

सामागन के प्रायः सात भाग होते है– हुंकार अथवा हिंकार प्रस्ताव आदि उद्वीथ, प्रतिहार, उपद्व तथा निधन। इसके मुख्य गायक को उदुग्ता कहते है। वस्तुतः अंत में सभी स्वर तथा गान मिलकर प्रणव अर्थात् ओंकार का सस्वर उच्चारण करते है।

EXP-001/EXP-006

8.4.2 उत्तर वैदिक युग में संगीत

उत्तर वैदिक युग में संगीत की परिकल्पना अरण्यकों, ब्राह्मणग्रंथों टकरही। अनन्तकाल में सतत गुंजारयमान ऊं आदि नाद है। अ, ऽ, म तीन अक्षरों के समावेश से बना ऊं त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु, महेश का घोतक है। ब्रह्मा ने संपूर्ण सृष्टि की रचना की, विष्णु पालक और महेश संहारकर्ता हुए। वैदिककाल में संगीतमय ऋचाओं का गायन किया जाता था। यज्ञादि कर्मों में जिन मंत्रों का व्यवहार होता था। उनमें सबसे अध्कि शब्द, श्रुति प्रचलित थे। शिक्षण पद्धति श्रवण तथा अनुकरण की हुआ करती थी। उपनिषदों की मानता है कि सारा विश्व बल का मधुर संगीत है और इसी का नाम साम है। छन्दोग्य उपनिषद् में साम का निरूक्त साक्ण्म है द्वारा विभाजन करके बतलाया गया है कि अधिक भौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक सभी स्तर पर 'सा' और 'अम' के संवाद से ही विश्व संगीत चल रहा है। ऋक् और साम शब्द और छंद, वाक् और प्राण, बिंदु और नाद, केह और परिधि एक दूसरे के पूरक है। इन्हीं दोनों का सामत्व संवाद का रूपटौ इसी ध्वनि को धर्मशास्त्रों, योगियो, ध्यानस्थ ऋषि मुनियों ने अपने अनुभूतियों के आधार पर अनहद नाद और अनाहत नाद की व्याख्या संगीत शास्त्रज्ञों ने किया है। वैदिक युग की सर्वोपरि उपलब्धि यह थी कि संगीत की गूढ़ आध्यात्मिक स्वरूप की व्याख्या कर इसे भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग बना दिया।

8.4.3 शिक्षा और ब्राह्मण ग्रंथों में संगीत की अवधारणा

'मुण्डकोपनिषद' में भगवान वेदव्यास जी को आदि गुरु के रूप में मानकर विद्यापर्वाह्य की दृष्टि से स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मयज्ञ गुण संयत इन्ही सम्पन्न, प्रशांत चित्र, समीप आये हुए शिष्य को तत्व के अनुरुप उस ब्रह्म विधा का आदेश दे। यथा– तसमैं स विद्वान प्रसन्नाय सम्यक्, प्रशांत चित्राय शमन्विताय। येन अक्षरंग पुरुष वेदं सत्यं प्रोणचांता तत्वतो ब्रह्मविधाम्। इस प्रकार वैदिक काल में संगीत और शिक्षा का अत्यंत वृहद उल्लेख प्रापत होता है। विधा संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग था। कौशकीतकी ब्राह्मण में यज्ञ के दौरान महिलाओं द्वारा वाद्य संगीत बनाने का उल्लेख मिलता है। हालांकि उन संगीतों का मुख्य उद्देश्य ईश्वरोपासना तथा भगवत प्राप्ति था। शिक्षा तथा ब्राह्मण ग्रंथों के माध्यम से संगीतमय कृतियों का निर्माण किया गया जिनकी रचना के आधार पर इसे रचा गया तथा मंत्रों को ही संगीत का रूप दिया गया।

8.4.4 पुराणों में संगीत की अवधारणा

उत्तर वैदिक काल के बाद पौराणिक काल का अवधि चक्र शुरु होता है जिस समय भक्ति संगीत और धार्मिक यज्ञ के कृत्यों, प्रयोजनों के अतिरिक्त लोक व्यवहार के

EXP-001/EXP-006

आयामों में भी संगीत का लोकार्पण हो चुका था। लगभग सभी महापुराणों और उपपुराणों में संगीत और नृत्य की कला संबंधी जानकारी उपलब्ध है। सब से अधिक महत्वपूर्ण पुराण इस संबंध में वायुपुराण है। जिसमें संगीत के तकनीकी पहलुओं की जानकारी मिलती है। जैसे कि ग्राम, मूर्छना, ताल, अलंकार वर्ण आदि से संबंधित विस्तृत जानकारी दी गयी है। श्रीमद्भागवत गीता में भी श्रीकृष्ण स्वयं को वेदों में सामवेद की संज्ञा देते है।

8.4.5 महाकाव्यों में संगीत की संकल्पना

पुराणों के बाद महाकाव्यों के रचना का काल आता है। जिसमें संगीत की रचनाओं को ग्रीति कहा जाता है। आम लोगों के जीवन में संगीत और नृत्य को प्रमुख स्थान था। सबसे पहला महाकाव्य वाल्मीकि कृत रामायण था जो संगीतमय लयबद्ध था जो भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। साथ ही साथ भगवान श्रीकृष्ण भी महाभारत काल से संबंधी थे जो संगीत के महान पण्डित थे। श्रीकृष्ण के वंशीवादन से ऐसी मधुर स्वर लहरियां निकलती थी कि नर–नारी पशु–पक्षी सभी मंत्रमुग्ध हो उठते। अर्जुन भी धर्नुविद्या के साथ–साथ गायन वादन में निपुण थे। अज्ञातवास में वृदनला का जीवन अपनाकर राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत का शिक्षा दिया तथा संगीत को महाकाव्य काल में पर्याप्त सम्मानीय स्थान प्राप्त था।

8.5 बाद्ध काल से तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत का इतिहास और विकास

पुराणों तथा महाकाव्य काल के अवधि चक्र में संगीत का वृहदतम विकास हुआ। साथ ही साथ संगीत का प्रचलन लोक व्यवहार के रूप में तो हुआ ही आम जनजीवन को भी संगीत प्रभावित किया। बौद्धकाल में भी संगीत की विकास की गति बनती रही। वस्तुतः संगीत कलिष्ट से सरलता की ओर उन्मुख हो रहा था। वैदिक काल में जो संगीत मंत्रों तथा यज्ञों तक सीमित था। अब वो आम जीवन के सरल जीवन के व्यवहार में शामिल होने लगा था। बौद्ध काल में इसका सम्पन्न परिवारों में संगीत का सम्यक् अध्ययन किया जाता था। बौधिसत्व आदि संगीत के अच्छे जानकार थे।

8.5.1 बौद्ध काल में संगीत

बौद्ध कला में संगीत अध्ययन व्यापक रूप में लोक सामाजिक जीवन में रच बस गया था। बौद्ध काल में संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश हुआ। इस काल में वीणा पर ही गायन होता था। शास्त्रीय संगीत प्रचलित था। बौद्ध विहारों में आराधना के लिए नियुक्त कलाकारों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। वीणावादकों की

EXP-001/EXP-006

प्रतियोगिता होती थी उनको पुरस्कार दिया जाता था। अन्तःपुर में महंती वीणा, मृदंग, पणव, तुर्य, वेणु आदि वाद्यों का वादन तथा गायन मनोरंजन के लिए किया जाता था। बुद्ध के जन्म के शुभावसर पर 500 वाद्यों का वृन्दवादन हुआ था। बौद्धकाल में तक्षशिला विद्यादान का मुख्य केन्द्र था। जिसमें वैदिक विद्यालय, अष्टादश विद्यालय आदि में पांच–पांच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ज्ञान के उपदेश के साथ–साथ संगीत काल का परिष्कार हुआ। इसी काल में थेरीगााथा की रचना हुई जो बौद्ध भिक्षुणियों के भाव प्रवण गीतों का संग्रह है। गीतों का माध्यम आध्यात्मिक दर्शन हुआ करते थे।

त्रिपिटकों में बौद्ध हीनयान धारा में भिक्षुओं के लिए संगीत को हमेशा वर्जित माना गया है। भगवान बुद्ध भी संगीत का उपयोग नहीं करते थे। परन्तु त्रिपिटकों में गीत, वादन, नृत्य और गाथा गायन का वर्णन कई बार मिलता है। बौद्ध युग में संगीत साहित्य का बहुत विकास हुआ। संगीत के अंतर्गत ग्राम, मूर्च्छना के साथ–साथ रागों का प्रचलन भी आरंभ हो चुका था। तत्कालीन लोकोत्सवों पर गीत वाद्य तथा नृत्य की त्रिवेणी प्रवाहित हो उठती थी। संगीत का सामूहिक अनुष्ठान गिएग, समज्ज तथा अन्य उत्सवों पर किया जा सकता था। ऐसे प्रसंगों पर संगीत के अतिरिक्त नाट्य, गायन का कार्यक्रम होता था।

8.5.2 जैन काल में संगीत

इस काल में संगीत की नींव महावीर स्वामी (600 ई0 पू0) के सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए रखी गयी। वो काल सत्यता, पावनता, सुन्दरता, अहिंसा और अस्तेय पर रखी गयी। इस प्रकार से संगीत के धरातल को ऊँचा बनाया। संगीत समयसार ग्रंथ जैन आचार्य पार्श्वदेव द्वारा कृत संस्कृत ग्रंथ है। इस काल में संगीत साधना का विषय हो गया था। जैन काल में ब्राह्मणों के महत्व को कम करने तथा वर्णाश्रमों के लिए एक संवेदनशील स्थिति बनी रही। जैन काल में संगीत एक आध्यात्मिक आयाम के लिए, भगवान के भक्ति के लिए होता था जिनालयों, चैत्यालयों, उपासना गृहों में संगीत का उपयोग जनेन्द्र देव की पूजन, अर्जन एवं स्तवन के लिए सदा से होता रहा है। बड़े–बड़े स्मृतिकारों ने अपने स्तवन या स्रातों में जनदर्शनों के लिए संगीत के प्रसंगों का उद्धृत किया है। वह मानते ळे कि संगीत की साधना आत्माभिमुख बनाकर अन्तस को निर्मल करती है।

8.5.3 मौर्य तथा शुंग युग में संगीत

मौर्यकाल में चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन पूरे भारत के ऊपर था। चन्द्रगुप्त को संगीत का बहुत बड़ा प्रशंसक था। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद राजा बिन्दुसार आए तथा फिर

EXP-001/EXP-006

अशोक का पर्दापण हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने संगीत के विकारस के लिए प्रयत्न किए, परन्तु फिर भी संगीत की उन्नति इस काल में उतनी नहीं हुई जितना बौद्धयुग में हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में संगीत का उतना विकास नहीं हुआ लेकिन अशोक के काल में संगीत का पर्याप्त विकास हुआ। अशोक ने बौद्ध शिक्षाओं के प्रसार के माध्यमों के संगीत का सहारा लिया। हालांकि इस समय भी अशोक के काल में यह मनोरंजन के साधन की जगह आध्यात्मिक स्वरूप ले लिया। अशोक के सिद्धांतों के अनुसार संगीत द्वारा क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि कुप्रवृत्तियों का दमन किया जाना चाहिए। भारतीय संगीत की प्रतिष्ठा के लिए अंतर्राष्ट्रीय जगत में उसका मान बढ़ाने के लिए सम्राट अशोक ने जो प्रयत्न किए उनका परिणाम आज संपूर्ण विश्व के सामने है। वाद्यों में वीणा, दुंदुभी, मृदंग, मंजीरा, वंशी, ढफ आदि मंत्र थे।

शुंग युग में शुंग काल के पहले शासक पुष्यमित्र शुंग थे। इस वंश का संगीत कला के प्रति एकनिष्ठ भाव से संगीति के प्रति रूझान था। इस समय में कला को बढ़ावा देने के लिए सरकारी सहायता दी जाती थी। इस युग के प्रमुख वाद्य डफ, मृदंग, ढोल, वेणी, वीणा, श्रंग आदि वाद्यों का प्रयोग था जिसका प्रमाण उस समय के स्थापत्य कला में देखा जा सकता है। इसी कालखंड में सभी भारतीय मंच कलाओं का आधार ग्रंथ नाट्यशास्त्र की रचना हुई जो भरतमुनि द्वारा लिखी गयी थी। शुंग काल में ही सांची स्तूप के कुछ भाग तथा इलाहाबाद के निकट के कुछ स्तूपों का निर्माण हुआ। यह काल शुंग काल में संगीत को नया आयाम दिया।

8.5.4 गुप्तकाल में संगीत

गुप्तकाल को भारत का स्वर्णिम युग कहा जाता है। संगीत एक साधना है, एक तपस्या है, जो तपस्वी सा तप करने सा विवश कर दीत है। इसी काल में संगीत समारोहों का दरबारी स्वरूप क्या होता है, इसकी आधारशिला निश्चित हो चुकी थी। इसका लाभ यह हुआ कि आने वाले समय में संगीत के विकास और प्रचार के लिए सशक्त माध्यम बन गया। समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहते है। वह न केवल एक प्रतिष्ठित सैनिक, राजनेता और प्रशासक था। बल्कि विता और संगीत के एक मजबूत जुनून के साथ एक जानकार व्यक्ति भी थे। इनके समय के कई सिक्कों पर वीणा बजाते दिखाया गया है। नाटककार भारत को भी संगीत कला को सिखाने का श्रेय जाता है।

गुप्तकाल भारतीय कला के विकास का युग था। यह कहे तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस काल में गुप्त काल को प्रजा भी संगीत की कोमल भावनाओं से ओत–प्रोत थी। उनका ज्ञान इतना परिष्कृत हो चुका था। उन्होंने व्याभिचारिकता को छोड़ दिया

और जीवन को अत्यंत शाति तथा निर्मलता से जीने का प्रयत्न संगीत की महत्ता को समझने लगी तथा इसे अपने जीवन में शामिल कर चुकी थी।

8.5.5 वर्धनकाल में संगीत

गुप्त काल के बाद का काल वर्धन वंश का रहा। इस वंश में प्रमुख सम्राट हर्षवर्धन ने 606 से 647 तक शासन किया। हर्षवर्धन स्वयं में एक कला प्रेमी था तथा उसने तीन नाटकों की रचना की। हर्षवर्धन समय–समय पर संगीत समारोहों का भी प्रस्तुतीकरण करवाता था। हर्षवर्धन द्वारा रचित नाट्यों में संगीत का तथा संगीत के वाद्य यंत्रों का वर्णन मिलता है। विपंची वीणा, वल्लकी, वीणा, परिवादिनी वीणा आदि। हर्षवर्धन के दरबारी कवि बाणभट्ट ने बहुत सी संगीतमय कविताओं का रचना किए। कोदलरी में बाणभट्ट ने घटराग छत्तीस रागिनी तथा गीत संगीत गोष्ठियों का वर्णन किया है और वाद्यों में वेणु, वीणा, शंख, मृदंग, नगाड़ों, घर्घरी आदि का वर्णन मिलता है। इस काल की कन्याओं को भी संगीत की शिक्षा दी जाती थी। हर्षवर्धन काल में संगीत का विकास निर्बाध गति से चलता रहा। इसी काल में मतंगमुनि द्वारा ''वृहददेशी'' नामक ग्रंथ की रचना हुई। उन्होंने जाति गायन के स्थान पर राग गायन का उल्लेखन किया है। नारदकृत ''नारदीय शिक्षा'' का रचनाकाल भी यही है। यह संगीत के लिए अनुकूल काल था।

8.5.6 सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक संगीत की स्थिति

संगीत की यात्रा निर्बाध रूप से मध्यकाल में भी चलती रही। संगीत तथा तथा संगीतज्ञों को राजाश्रय मिल जाने से यह विशिष्टता को प्राप्त कर लिया हालांकि यह एक तरीके से मनोरंजन का पर्याय बनने लगा था फिर भी विकास की दृष्टि से यह काल संगीत के लिए उन्नति का रहा। खिलजी काल में अलाउद्दीन खिलजी एक वीर के साथ संगीत प्रेमी भी था। अमीर खुसरों नामक कवि ने संगीत के दुनिया में एक अमिट छाप छोड़ा। नीत गोविंद के बाद तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में संगीत के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गई– संगीत रत्नाकर। संगीतशास्त्री शारंगदेव द्वारा रचित संगीत रत्नाकर ग्रंथ को उत्तर तथा दक्षिण भारतीय संगीत का आधार ग्रंथ माना जाता है। साथ ही साथ इसी काल में भारतीय समाज में सूफी परंपरा और आकर्षण बढ़ा तथा सूफी संगीत को महत्व तथा प्रोत्साहन मिला।

8.6 चौदहवीं शताब्दी से आधुनिक काल में संगीत

14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतवर्ष पर यूरोप निवासियों के आधिपत्य के परिणामस्वरूप शास्त्रीय संगीत समारोह को चुनौतियों एवं समस्याओं का सामना करना

EXP-001/EXP-006

पड़ा। विदेशी आक्रमणकारियों के कारण भारतीय संगीत बुरी तरह से प्रभावित हुआ। समस्याओं के समाधान हेतु सार्थक व्यास संगीत महर्षि विष्णु नारायण भातखण्डे जी द्वारा किया गया। उन्होंने कलाकारों एवं संगीत सुधियों को एकत्रित करके विचार–विमर्श के माध्यम से संगीतशास्त्र तथा प्रयोग पक्ष की समस्याओं का समाधान निकाला जिससे संगीत समारोहों में कलाकारों व श्रोताओं की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई। आधुनिक काल में सर्वप्रथम विलावल को शुद्ध थाट मानकर 1813 ई0 में पटना के एक रईस मुहम्मद रजा ने ''नगमात्रे आसफी'' नामक पुस्तक लिखी। इन्होंने पूर्व प्रचलित राग रागिनी पद्धति का खंडन करके अपना नवीन मत चलाया जिसमें 6 राग और 36 रागिनी मानकर एक नया विभाग किया। इसी परिवर्तन काल में बंगाल के राजा सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर ने तथा कुछ अन्य विद्वानों ने राग–रागिनी पद्धति का समर्थन किया। इधर संगीत संबंधी पुस्तके भी अच्छी–अच्छी प्रकाशित होने लगी है। संगीत कला के विकास के लिए यह शुभ लक्षण है। संगीत का यह काल मनोरंजन के लिए समाविष्ट किए हुए है। संगीत निरंतर विकास के ओर अग्रसर है। नवीनता का रूप लिए जा रहा है।

8.7 सारांश

मनुष्य समाज की एक इकाई है। मनुष्य से ही समाज निर्मित होता है। संगीत का समाज से घनिष्ठ और अटूट संबंध होता है। संगीत समाज का प्रतिनिधित्व करता है। संगीत हमारें जीवन का अभिन्न अंग है। परन्तु फिर भी संगीत के प्रति हमारी आधुनिक क्षीण दृष्टिकोण को हम नहीं देख पा रहे है। इस दृष्टिकोण में संगीत केवल मनोरंजन करने वाला एकतत्व रह गया है और कुछ नहीं। समाज में संगीत मनोरंजन से लोगों को प्रभावित करता है। यदि हम नागरिक समाज से निकलकर कुछ लोकसंस्कृति का अध्ययन करे तो हम यह अनुभव करने लगेंगे की संगीत मात्र मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि लोक सौहार्द का अनुपम संरचित हृदयस्पंदन है।

भारत में संगीत की परम्परा का परिप्रेक्ष्य वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में मगर बात की जाय तो हमारे ऋषि मुनियों ने वैदिक काल से ही मोक्ष तक पहुंचाने का साधन बताया गया है। भारतीय संगीत प्राचीन काल से ही धर्म के संरक्षण में उद्भृत हुआ तथा पला बढ़ा। संगीत जहां मानव की आत्मा का विकास करता है वही इससे उठने वाली तरंगे नाद द्वारा मानव मन शरी तथा आत्मा सभी को एकसूत्र में पिरोन का कार्य भी करता है।

EXP-001/EXP-006

8.8 बोध प्रश्न

1. भारतीय संगीत परम्परा के महत्व का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संगीत के विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय संगीत के विकासक्रम का मूल्यांकन कीजिए।

8.9 संदर्भ सूची

1. नाहर कुमार साहित्य, भारतीय संगीत मनोवैज्ञानिक आयाम, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 1999
2. शर्मा जया, पंडित भातखंडे के ग्रंथों का संगीत शिक्षण में योगदान, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, वर्ष 2012
3. सिंघानिया नितिन, भारतीय कला एवं संस्कृति, mchowwnin
4. बनर्जी कुमार आरती, हिन्दुस्तानी संगीत, परिवर्तशीलता शारदा पब्लिशिंग, वर्ष 1992

EXP-001/EXP-006

इकाई–9–भारतीय चित्रकला : सौन्दर्यशास्त्र एवं उसके तत्व

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 सौन्दर्यशास्त्र

9.3.1 परिभाषा

9.3.2 भारतीय तथा पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति

9.4 भारतीय चित्रकला

9.5 रस का सिद्धांत : सौंदर्यानुभूति

9.5.1 सामान्य विशेषताएँ

9.6 काल विभाजन

9.6.1 प्रागैतिहासिक

9.6.2 शास्त्रीय

9.6.3 मध्यकाल

9.7 आधुनिक काल

9.7.1 भारत में यूरोपीय कलाकार

9.7.2 आधुनिक भारतीय चित्रकला

9.8 सारांश

9.9 बोध प्रश्न

9.10 संदर्भ सूची

9.1 प्रस्तावना

भारतीय चित्रकला की एक प्राचीन विशाल परंपरा रही है। चित्रकला काव्य तथा संगीत के तरह ही भावाभिव्यक्ति की उच्चतम एवं सम्मानीय कला के रूप में प्रतिष्ठित रही है। प्राचीन काल से ही चित्रकला का संबंध मुख्य रूप से धार्मिक, पौराणिक कथाओं से रहा है, हालांकि पूर्णरूपेण चित्रकला धर्म के लिए समर्पित नहीं रही। इसने सामाजिक

EXP-001/EXP-006

परिदृश्य तथा इसकी इकाईयों का भी भली भांति ध्यान रखा। इस इकाई में आप अध्ययन करते हुए इससे भली भांति परिचित होंगे कि भारत में चित्रकला का ऐतिहासिकता किया रहा है? प्राचीन काल में होशंगाबाद और भीमबेटका क्षेत्रों में कंदराओं और गुफाओं में मानव चित्रण के भी प्रमाण मिलते है। भारतीय चित्रकला की समृद्धि का आकलन इन उदाहरणों से भली भांति लगाया जा सकता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- चित्रकला के विभिन्न पहलुओं से आप परिचित हो पाएंगे।
- चित्रकला को जानने तथा समझने का प्रयास करेंगे।
- चित्रकला के कालानुक्रमण को जान पाएंगे।
- भारतीय चित्रकला के विकास के इतिहास को मौखिक या लिखित रूप में व्यक्त कर सकेंगे।
- हम जान पाएंगे कि चित्रकला सौंदर्यशास्त्र तथा विषयवस्तु दोनों का क्या अंतर्संबंध है?

9.3 सौंदर्यशास्त्र

सौंदर्य एक मानसिक काव्य भाषा है क्योंकि वस्तुओं के रूप का भाव के द्वारा वस्तु स्वरूपवान या कुरुप मानी जाती है। तर्क से ही विभिन्न अनुभवों को अनुभूति के रूप में सरोकार किया जाता है। बुद्धि तथा भावना में वही मेल है जो सत्य और सौन्दर्य में पाया जाता है। इसलिए तो सत्य तथा सुंदरता को एक वाक्य में रख रचा गया। ''सत्यं शिवं सुन्दरं।''

जो वस्तु प्रिय होती है वही प्रिय होते ही सुंदर भी हो जाती है और यही से शुरुआत होती है कला की तथा कला के साथ–साथ ही प्रकृति के बिखरे पड़े रंगों का एकत्रण द्वारा रंग भरने की जिसे चित्रकला के नाम से जाना जाता है।

कला में तीन तत्व प्रमुख रूप से विद्यमान रहते है रूप, भोग एवं अभिव्यक्ति। रूप आन्तरिक तथा बाह्य दो प्रकार का होता है कला में चाहे रूप की प्रधानता होती है। कला का अन्तिम ध्येय सौन्दर्यानुभूति है जिसे देखकर दृष्टा तथा दृश्य दोनों ही एकाकार स्वरूप में लीन हो जाते है। जब दर्शक किसी दृश्य को देखता है तो उसके मस्तिष्क में स्वतः रस की निष्पत्ति होती है और दर्शक को आनन्द की प्राप्ति होती है। भारतीय दर्शन

EXP-001/EXP-006

में सौन्दर्यशास्त्र को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने आनन्द का संबंध नाटक से है लेकिन कला का सौंदर्य के साथ अभिन्न संबंध है। आरंभ में चित्रकला, शैली, शिल्प, प्रतीक और विषय परन्तु मुख्य रूप से कबीलों की सांस्कृतिक परम्परा पर केन्द्रित रही। चित्रकारों की नियुक्ति सर्जक के रूप में नहीं बल्कि निपुण कारीगर के रूप में होती थी।

19वीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी सभ्यता का चित्रकला समाज में अपनी भूमिका खोने लगा। अब वह वाणिज्यक गैलेरियों तथा सार्वजनिक संग्रहालयों के माध्यम से ही अपने दर्शकों के मध्य स्थान पा सकता था। एक तरह से कहे तो वैश्वीकरण का पहुंच चित्रकला को भी छू चुकी थी।

9.3.1 परिभाषा

चित्रकला अथवा किसी भी कला का मानक उसका सौंदर्य होता है। बिना सौंदर्य किसी भी कला कोई भी आकर्षझा नहीं। सौंदर्य का एक प्रयुक्त परिभाषा देना सरल कार्य है भी नहीं क्योंकि भावों को परिभाषित करना सदैव से ही एक कठिन कार्य रहा है। चित्रकला सुंदर भावों का एक संकलित परिकल्पना है जिसमें विविध प्रकार के विविधता को समेटे उकेरे भाव दिखते हे। चित्रकला का सौंदर्य का आत्मा पर उद्धृत गानों का कला है। जो सुदंरता द्वारा झलकता है। किसी भी कलाकृति को उसके प्रत्यक्ष कार्य और उद्देश्य के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। एक कलाकृति के साथ कई कथानक उसके विषयवस्तु के साथ जुड़े होते है। अगर हम यह मानते हुए चले कि कृति का मानदंड मात्र सौंदर्य ही है तो हम समाज से कला को अलग कर देंगे।

भारतीय दृष्टि में जितना सौंदर्य चेतन जगत में प्रसारित होता है उतना ही वह जड़ वस्तु में भी छुपा है। वस्तुतः शास्त्रदृष्टतया सौन्दर्यशास्त्र नवीन शास्त्र को हम भले ही पाश्चात्य विद्वानों की देव माने परन्तु इसके तत्व भारत में प्राचीन काल में भी उपलब्ध होते जो अधावधि विद्यमान है जिन्हें पाश्चात्य आज भी स्वीकार करते है। अतएव आज, भारतीय एवं पाश्चात्य सौंदर्याशास्त्र में उपलब्ध सौंदर्य तत्व में कुछ समानताएं दृष्टिगोचर होती है। यथा– कलातत्व, काव्य तत्व, कल्पना तत्व आदि।

सौंदर्यशास्त्र संवेदनात्मक, भावात्मक, गुणधर्म और मूल्यों का अध्ययन है। कला, संस्कृति और प्रकृति का प्रतिअंकन ही सौंदर्यशास्त्र है। सौंदर्यशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें कलाकृति और रचनाओं, आदि से अभिव्यक्त होने वाला अथवा उनमें निहित रहने वाले सौंदर्य का तात्विक, दार्शनिक और मार्मिक विवेचन होता है।

EXP-001/EXP-006

सौंदर्य की पाश्चात्य परिभाषा–

1. यूनानी दार्शनिक के अनुसार, अरस्तु का प्रसिद्ध ग्रंथ पोयटिक्स इन का मानना है कि

सौंदर्य न तो अतिशय विशाल है और न ही अतिशय लघु होता है बल्कि दोनों के मध्य का औसत होता है।

2. रोम के प्लूकि मानता था कि सौंदर्य एक प्रकार की कुशलता है।

3. काण्ट का कथन है कि सौंदर्य चिन्तनशील धारण का आनंद है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व की स्थापना करना है।

9.3.2 भारतीय तथा पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति

भारतीय परंपरा में सौंदर्य का अत्यंत विशद् विवेचन प्राप्त होता है और इस विवेचन की परम्परा वैदिक काल से अधावधि देखा जा सकता है। भारत काव्यशास्त्र में तो सौंदर्य का प्रतिमान सदैव से चर्चित विषय रहा है। इस तत्व का चमत्कार चारूता, रमणीयता, मोहनीयता, मनोरम, सौंदर्य आदि शब्दों से बोधित किया गया है। भारतीय सौंदर्य चेतना अध्यात्मक की ओर प्रवृत्त है।

1. वाल्मीकि–

गम्यतां भवता शैल चित्रकूटः स विश्रुतः।

पुण्यंश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः।।

2. वामन

काव्य ग्राह्यलंकरात्। सौन्दर्यलंकार। अर्थात् काव्य का सार तत्व अलंकार है और अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य अर्थात् सौंन्दर्य का प्राण अलंकार ही है।

3. माघ

क्षणे क्षणे यनवतामुयैति तदेपरूपं रमणीयताय अर्थात् माघ ने सौंदर्य को चिर नवीन आकर्षण माना है।

4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

सौन्दर्य एक मनोदशा विशेष है अनुभव का विषय है। यह एक गुण है जो वसतु के अन्तः बाह्य सामंजस्य से अथवा उसकी समग्रता में उत्पन्न होता है।

भारतीय परंरपरा में सौंदर्य के अन्य तत्व के रूप में

1. कला तत्व
2. कल्पना तत्व
3. बिम्ब तत्व

EXP-001/EXP-006

4. प्रतीक

5. काव्य तत्व

6. दर्शन तत्व

7. विज्ञानत्व इत्यादि का भी व्याख्यात्मक वर्णन मिलता है। जड़ चेतन को एक देखना, चेतन का आरोप अचेतन पर करने के कारण भारतीय दृष्टि में सौंदर्य अधिक है।

पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति

इस संसार में शायद ही कोई व्यक्ति वस्तु के आकार एवं आकृति के गुण अर्थात् उसके सौंदर्य के प्रति खिंचाव नहीं महसूस करता है। सबके अंदर यह विद्यमान तत्व है कि वह पारखी होता है। सुन्दरतम उस खिचांव के प्रति जो उसे महसूस होता है। सुन्दर वस्तु में वह गुरुत्वाकर्षण होता है वह चुंबकीय खिचांव होता है जिसमें बंधकर मनुष्य अपने आप खिंचता चला जाता है। खूबसूरती पर नजर पड़ते ही उसका हृदय स्पंदन से भर जाता है तथा वह रोमांच से भरकर पुलकित हृदय से दूषित हो जाता है। सौंदर्य के पाश्चात्य दर्शन के अनुसार सौंदर्य सुन्दर, शिव और सत्य एक है। सुन्दर 'परम' है और पूर्ण है तथा सुंदर के लिए नैतिक होना आवश्यक है। वही वाउमगर्तेन का कथन है कि ''प्रकृति सौंदर्य का चरम प्रतिमान है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौंदर्य सृजन है। सौंदर्यशास्त्र अतेन्दिय ज्ञात का विषय है। अन्तेन्दिय माध्यम से पूर्णत्व की अनुभूति सौंदर्य है।

रस्किन के अनुसार, ''सौंदर्य ईश्वर की विभूति है। रस्किन ने मनुष्य में दो वृति माना है– सहजवृतति और कल्पना सहजवृति के अंतर्गत ही सौंदर्य बोध आता है।

9.4 भारतीय चित्रकला

स्मृति, भावना, आनंद आदि को अभिव्यक्त करने के लिए समुचित रंगों के उपयोग एवं छाया प्रकाश आदि के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा सादृश्य का बोध कराना चित्रकला कहलाता है। भारतवर्ष में चित्रकला की परंपरा अत्यंत प्राचीनकाल से विद्यमान थी। भारत में चित्रकला की अपनी विशिष्ट शैली है और इसके अंतर्गत मानव सदियों से जीवन के विविध पक्षों का चित्रण करता रहा है। धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ को चित्रित करने में भारतीय चित्रकारों ने अभिव्यक्ति की पूर्णता को प्राप्त किया है।

भारत के चित्रकला के 4 प्रमुख रूप परिलक्षित होते है, जो निम्न है–

- भित्ति चित्र – ये चित्र भवनों एवं गुफाओं की दीवारों पर चित्रित किए जाते है।

EXP-001/EXP-006

- चित्रपट– ये चित्र वस्त्रों या चर्म पर चित्रित किए जाते है।
- चित्रफलक – ये चित्र पाषाण, काष्ठ या किसी अन्य धातु पर चित्रित किए जाते है।
- लघुचित्रकारी– पुस्तकों के आवरण पृष्ठों तथा वस्त्रों पर चित्रित किए जाते है।

भारतीय चित्रकला प्रेम मनोभाव से परिपूर्ण तथा प्राकृतिक विषयवस्तु से अधिक करीब रही है। भारतीय चित्रकला की प्राचीनता अपने आप में एक विषय है जो बहुत ही प्रसंग को जोड़े रही है। भारतीय चित्रकला की आदर्शवादिता पर भी आधारित थी। भारतीय चित्रकार यथार्थ की अपेक्षा आदर्श में ही विचरण करते है। वह संसार को जैसा दिखता है वैसा चित्रण न करके, जैसा होना चाहिए वैसा चित्रण करता है। भारतीय चित्रकला के आदर्श है। भाव प्रधान कोमल तथा सत्यम् शिवम् सुन्दरम की भावना से अभिभूत रहा है। कुछ इतिहासकार सभी भारतीय कलाओं को धार्मिक मानते है। यह सही भी है कि दृढ़ धार्मिक विचारों वाले व्यक्ति अधिकांश भारतीय कलाओं को धार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर सकते है। जरूरी नहीं है कि यह किसी कलाकार या उस समय के लोगों का यही उद्देश्य हो। रहस्यवादी प्रतीकवाद प्राच्यवादी कला की एकमूल अवधारणा है। आमतौर पर प्रतीकवाद में किसी जानी पहचानी छवि का उपयोग किया जाता है। भारत के धर्म भी चित्रकला से जुड़ रहे है। कई लोगों का यह मानना है कि एकेश्वर और सर्वेश्वरवाद तक पहुंचने में इन धर्मों ने जीववाद, चमत्कार और यथार्थवाद का रास्तापार किया और अर्क अभिव्यक्ति इनसे प्रभावित हुई।

9.5 रस का सिद्धांत : सौन्दर्यानुभूति

कला का मनोविज्ञान आधुनिक पश्चिमी सौंदर्याशास्त्र का अभिन्न अंग है। इस क्षेत्र में भारत का भी योगदान महत्वपूर्ण है। भरतमुनि से लेकर अभिनवगुप्त जैसे विद्वानों ने रस का सिद्धांत दिया। रस सिद्धांत यद्यपि भारतीय काव्य में प्राचीनतम सिद्धांत है तथापि इसका व्यापक प्रतिष्ठावाद में हुई है। यही कारण है कि अलंकार सिद्धांत को रस सिद्धांत से प्राचीन माना जाने लगा। रस सिद्धांत के मूलप्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते है। उन्होंने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस के विभिन्न अव्यवों का विवेचन किया तथा रस सूत्र दिया।

भरतमुनि का रस सूत्र इस प्रकार है–

'विभावानुभाव व्यभिचार संयोगाद्स निरूपतिः।''

EXP-001/EXP-006

स्पष्ट रूप में भरत यह कहते है कि जिस प्रकार स्वस्थ वाला व्यक्ति ही भोज्य पदार्थों का स्वाद ले सकता है उस प्रकार सहव्यय ही रस का रसावादन कर सकता है।

आचार्य अभिनवगुप्त–

अभिनवगुप्त का रस विवेचन सर्वाधिक महत्वपूण्र है। रस विवेचन भी अलौकिकता का समावेश करने का श्रेय इन्हीं को है। अभिनवगुप्त की मूल अवधारणा है कि काव्य हमारी भावोत्तेजना का साधन मात्र है। वह नए भावों की सृष्टि नहीं करता। रस विभावादि का संयोग से उपज व्यंजनावृति के अलौकिक व्यापार द्वारा रस रूप में व्यक्त होता है।

आचार्य विश्वनाथ–

आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ 'साहित्य दर्पण में रस के विवेचन में परम्परागत विचारों का निरूपण किया है। उनके अनुसार सहृदयों के हृदय में स्थितरति आदि स्थायी भाव ही विभावादि से संयुक्त होकर रस रूप में प्रापत होते है। अन्तःकरण में तकोगुण तथा रजोगुण दब जाते है तथा सतोगुण का उहके होता है।

9.5.1 सामान्य विशेषताएँ

कलाकार किसी कलाकृति को उकेरते समय किसी कलाकृति को ही नहीं उकेरता वरन् अपने मनोभावों के रचना को भी उकेरता है। जब वह भावों को शब्द का रूप न देकर एक आकृति का रूप देता है। तब वह एक जीवित मुद्रा में एक कल्पना को साकार कर रहा होता है। कला एक जीवंत आत्मा की तरह होता है जो कलाकार की आत्मानुभूति से निकला सौंदर्य रस का उपज होता है।

अनेक मनोरम कृतियाँ व्यक्ति के मनमोहकता को धूसरित कर देती है वो कल्पना से भी अधिक उत्कृष्ट कला के सृजनात्मकता के नींव में बनती हुई दृष्टिगोचर होती है। रस की निष्पत्ति सामाजिक हृदय में तभी संभव हो पाया है जब रजोगुण तथा तमोगुण का भावनाश हो जाता है तथा सतवगुण की प्रधानता हृदय में प्रसारित हो जाती है। सौन्दर्य तथा कला दोनों ही चिन्तनशील धारणा का आनन्द है जिसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व की ओर भेजकर मनुष्य हृदय को रस के भाव से सराबोर करके उसके उच्चतम अवस्था पहुंचाना है। असली सौन्दर्य सूर्य के समय प्रकाशित होता है लेकिन नकली सौंदर्य चन्द्रमा की तरह घटते–बढ़ते रहता है।

EXP-001/EXP-006

9.6 काल विभाजन

साहित्य के अवशेषों तथा प्राचीन आकृतियों से पता चलता है कि चित्रकला एक विशिष्टता के साथ भारतीय संस्कृति में घुली हुई थी। हालांकि भारतीय चित्रकला मात्र व्यवसाय का जरिया मात्र नहीं था। ये एक कला के रूप में या जिसका एक आध्यात्मिक दार्शनिक तथा साथ ही सामाजिक–भौतिक दृष्टिकोण भी था। हालांकि उस प्राचीनता रका आज दोहन हो गया है लेकिन बची हुई धरोहरें भारतीय चित्रकला के उत्कृष्टता बताने को पर्याप्त है। मंदिर गुफाओं के भित्ति चित्र के रूप में तथा अन्य माध्यमों से यह चित्र आज भी भारतीय संस्कृति का चन्द्रमा जो हुए है।

9.6.1 प्रागैतिहासिक

प्रागैतिहासिक काल में लेखन कला का अभाव था। अतः उस काल में मनुष्य ने अपने भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने हेतु चित्रों एवं रेखा चित्रों का सहारा लिया। ये चित्र दीवारों तथा गुफाओं पर प्रस्तर उपकरण से बनाए गए। भारत में चित्रों के प्राचीनतम प्रमाण उत्तर पुरापाषाण काल से प्राप्त हुए है। इसका काल में अनेक गुफाएं मिली है जिनके दीवारें पर जानवरों के सुंदर चित्रों से भरी पड़ी है, जिनका गुफाओं के रहने वाले लोग शिकार किया करते थे। ये लोग मनुष्यों तथा उनकी गतिविधियाँ के दृश्य चित्रित करते थे और वृत, वर्ग तथा आयत जैसी अनेक ज्यामितीय आकृतियां और प्रतीक भी बनाते है।

9.6.2 शास्त्रीय

शास्त्रीय काल से तात्पर्य उस काल से है, जब चित्रकाल कला के रूप में विकसित हो चुकी थी तथा चित्रों को बनाने व नियम तथा रंग संयोजन, सामग्री आदि के चयन के वैज्ञानिक सिद्धांत एवं मापदंड निर्धारित किए जा चुके थे। शास्त्रीय चित्रकला के अंतर्गत धार्मिक एवं लौकिक दोनों ही विषयों के चित्रों के अंकन प्राप्त होते है। प्राकृतिक सौंदर्य जातक ग्रंथों के दृश्य, मानवीय भावनाओं के दृश्य, नृत्य, गान, जुलूस आदि के दृश्य इन चित्रों में अंकित है।

शास्त्रीय काल में चित्रकला के प्रमुख केन्द्र

शास्त्रीय काल में चित्रकला के प्रमुख केन्द्र निम्न है–

1. जोगीमारा चित्रकला–

जोगीमारा, छत्तीसगढ़ के सरगुजा क्षेत्र के रायगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित है। जोगीमारा गुफा में मानव, हाथी, शार्क मछली की आकृतियों के साथ ही नारी जैसी

EXP-001/EXP-006

आकृति अंकित है।

- अजन्ता
- एलोरा
- वादामी की चित्रकला

2. सितनवासल की चित्रकला

शास्त्रीय चित्रकला में शुभ भाव से जुड़े चित्रों का अंकन किया जाता था। जो मुख्यतः शास्त्र, पौराणिका कथा वस्तु के निकट भाव से जुड़े रहते थे। शास्त्रीय चित्रकला शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म दोनों ही धर्मों से जुड़े भी पाए गए है।

बाघ गुफाएं–

बाघ की गुफाएं मध्य प्रदेश के धार जिले में बाघ की पहाड़ियों पर उत्कीर्ण है। इनकी खोज 1818 ई0 में डेजर फील्ड ने की थी। इसकी संख्या 9 है। इन्हें गुप्तकाल में चित्रित किया गया है। बाघ की गुफाएं प्राकृतिक नहीं आदि चट्टानों को काटकर बनाई गयी है। ये प्राचीनकाल में सातवाहन काल में बनायी गयी है। यहां भी चौथी गुफाओं को रंगमहल के नाम से जाना जात है।

बाघ की गुफाओं में चित्र दैनिक जीवन की घटनाओं के विषय से संबंधित है। यहाँ पर चिकनी दीवारों पर चूने की सफेदी करके चित्र बनाए जाते थे। यहाँ के चित्रों में लाल, पीला, सफेद व खाकी रंगों का उपयोग मिलता है। पशु पक्षी के चित्रण में कलाकार कुशल थे।

9.6.3 मध्यकाल

पूर्व मध्यकाल में भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला की अभिव्यक्ति तथा बौद्ध धर्म के निर्बल होने के कारण कमजोर पड़ गई और अब वह लोकजीवन के संरक्षण में चली गयी। पूर्वमध्यकाल में बड़े–बड़े भित्ति चित्रों की जगह पर लघु चित्रों का परम्परा गतिमान हुई।

भारतीय मध्यकाल का चित्रकला विभिन्न राज्याश्रयों के द्वारा पल्लिवित एवं पुष्पित होता रहा है। इस काल में रीतिकालीन साहित्य अपने संपूर्ण अंगोपांगों के साथ विकसित होकर श्रृंगार प्रधान बना रहा। मध्यकालीन चित्रकला के अंतर्गत नायिका को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है। वर्गीकरण का आधार नायक का लौकिक फिल्म, विरह विश्वासघात इत्यादि स्थिति में बनाया जाता है। इस काल में बारहमासा वर्ष में 12

EXP-001/EXP-006

महीनों के दौरान नायिका के श्रृंगार, मन स्थिति की भावनाओं व क्रीडाओं को चित्रित किया गया।

मुगलकाल में जहांगीर चित्रकला प्रेमी था जिसमें मुगलकाल में जीवनशैली के तथा उसके चित्र के प्रति रूझान से मिला। यह एक उच्चतम अवस्था की ओर बढ़ती हुई प्रतीत होती है। मध्यकालीन चित्रकला लौकिक तथा दैनिक जीवन से विशेषकर जुड़ा हो।

9.7 आधुनिक काल

9.7.1 भारत में यूरोपीय कलाकार

औपनिवेशिक शासनकाल में अनेक प्रकार की नई कला के रूपों, शैलियों, सामग्री और तकनीकों का सूत्रपात हुआ। जो हमारे जीवन में सहज प्रतीत होते थे। 18वीं सदी चित्रकार भारतीय माध्यम से नयी भूमिका भी थी।

इतिहास की शैली को पूर्णरूप से एक कला के रूप में यज्ञोगान के रूप में दिखाया गया है। औपनिवेशिक काल में विभिन्न दरबारों में चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ। चित्रों में परिप्रेक्ष्य विधि एवं रोशनी तथा परछाई का प्रयोग यूरोपीय प्रभावों का प्रमाण है। कुछ दरबारी कलाकारों द्वारा अंग्रेजों के लिए कंपनी चित्रकला का निर्माण किया गया है। जैसे पटना कलम चित्रकला आदि जिसे कंपनी शैली भी कहते है।

9.7.2 आधुनिक भारतीय चित्रकला

19वीं सदी के अंत में कला एवं राष्ट्रवाद के मध्य गहरा संबंध स्थापित हो गया। अतः अब चित्रकारों राग ऐसी चित्रकला शैली का प्रयोग आरंभ किया गया जिसे पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों कसौटियों पर देखा जा सके। राजा रवि वर्मा की कला राष्ट्रीय आधुनिक शैली को विकसित करने वाले आरंभिक चित्रकारों में एक थे। वे त्रावणकोर राजपरिवार से थे। उन्होंने तैल चित्रकारी और यथार्थपरक जीवन अध्ययन की पश्चिमी कला में महारत हासिल कर भारतीय आध्यात्मिक चित्र निर्मित किए। अपने चित्रों को सामान्यजन तक पहुँचाने के लिए राजा रवि वर्मा ने बंबई के राजा रवि वर्मा प्रेस की स्थापना की थी।

रवीन्द्र नाथ टैगोर ने राजा रवि वर्मा की शैली को नकार कर केवल भारतीय शैली में निर्मित गैर–पश्चिमी कला पर बल दियसा। इन्होंने अजंता की चित्रकारी से प्रेरणा प्राप्त की। इनकी नई भारतीय शैली में भारत की विभिन्न लघु चित्र परंपराओं के लक्षण भी दिखाई देते है। भारत को देवी दुर्गा के रूप में दर्शाने वाला इनका चित्र विख्यात है।

EXP-001/EXP-006

आधुनिक भारतीय चित्रकला में लोक चित्रकला का भी योगदान रहा। यह भी साथ–साथ पुष्पित तथा पल्लिवित होती रही। जिसमें मधुबनी, परचित्र, वर्ली कला, कालीपाट वर्तन और फर्श चित्रकला आदि शामिल है।

9.8 सारांश

भारतीय चित्रकला का संरक्षण करना आवश्यक है। यह भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। अजंता, ऐलोरा या बाघ गुफाओं का चित्र पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है। पर्यटन स्थल की विशेष रख–रखाव के साथ समुचित प्रबंधन की आवश्यकता होती है। हालांकि पर्यटक के अति दोहन का भी समस्या उत्पन्न होता देखा गया है लेकिन अगर दोनों के मध्य सामंजस्य रखकर कार्य किया गया तो कला का सौंदर्य संस्कृति की शोभा बनकर बची रह सकती है।

9.9 बोध प्रश्न

1. भारतीय चित्रकला के विभिन्न आयामों के विषय में वर्णन कीजिए।
2. चित्रकला के प्रमुख केन्द्रों का वर्णन कीजिए।

9.10 संदर्भ सूची

1. भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, डॉ0 नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1993
2. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, डॉ0 कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
3. सौंदर्यशास्त्र, डॉ0 ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, वययूर, 2014
4. आधुनिक भारतीय चित्रकला, डॉ0 गिरीज किशोर अग्रवाल
5. भारतीय चित्रकला का इतिहास, संदीप कुमार मिश्र

EXP-001/EXP-006

इकाई –10–भारतीय रंगमंच : भारत में रंगमंच परम्परा–शास्त्रीय, लोक रंगमंच

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 भारत में रंगमंच परम्परा

  10.3.1 संस्कृत रंगमंच

  10.3.2 लोक रंगमंच

  10.3.3 आधुनिक रंगमंच

10.4 भारत में नाट्य परम्परा

10.4.1 संस्कृत नाटक

10.4.2 संस्कृत्योत्तर नाटक

10.4.3 आधुनिक नाटक

10.4.4 स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नाटक

10.5 आधुनिक भारतीय रंगमंच

  10.5.1 पारसी रंगमंच

  10.5.2 अभिजात्म रंगमंच

  10.5.3 जनोन्मुखी रंगमंच

10.6 विभिन्न नाट्य शैलियाँ

  10.6.1 पाश्चात्य नाट्य शैली

  10.6.2 संस्कृत नाट्य शैली

  10.6.3 लोक नाट्य शैली

10.7 सारांश

10.8 बोध प्रश्न

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

EXP-001/EXP-006

10.1 प्रस्तावना

भारत की नाटक की परम्परा प्राचीन काल से ही प्रचलन में रही है, इन नाटकों के साथ ही साथ रंगमंच का भी विकास हुआ। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक, रंगमंच, दर्शक नाटक आदि का विवरण प्राप्त होता है। आधुनिक काल में नाट्य परम्परा का आविर्भाव नये रूप के साथ हुआ। पश्चिम के आधुनिक रंगमंच और ग्रीक परम्परा से परिचय प्राप्त कर आधुनिक भारतीय रंगमंच का विकास हुआ।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- भारत के रंगमंच परम्परा को समझ सकेंगे।
- भारतीय रंगमंच के विभिन्न स्वरूपों से परिचित हो सकेंगे।

10.3 भारत में रंगमंच परम्परा

विद्वानों का प्रायः यह मत है कि भारतीय रंगमंच का आरम्भ आर्येत्तर सभ्यता से हुआ लेकिन यह योगदान किस रूप में था। इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। संस्कृत की जो विकसित नाट्य परम्परा दिखाई देती है, उसका अस्तित्व तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि पूर्व नाटकों की लोक परम्परा विद्यमान न रही हो।

10.3.1 संस्कृत रंगमंच

संस्कृत का सबसे प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद है। इस ग्रन्थ में कई कलाओं जैसे संगीत, वास्तु, नृत्य, काव्य आदि वर्णित है, लेकिन नाट्य कला का वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। भारतीय ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की रचना तीसरी ओर पांचवी शताब्दी ई0 के बीच मानी गई है। नाट्यशास्त्र में रस और रस की अभिव्यक्ति के साधन पर विचार व्यक्त किया गया है। रस को व्यक्त करने के चार साधनों का वर्णन किया गया है–

1. आंगिक
2. वाचिक
3. सात्विक
4. आहार्य

भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रंगमंच की रचना और उसके प्रबन्ध के उपायों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल से ही भारत में विवाह, यात्रा, अभिषेक,

EXP-001/EXP-006

गृहप्रवेश, उत्सवों पर नाटक आयोजित करने की परम्परा थी। नाट्यशास्त्र में मण्डप कोटि की नाट्य शालाओं का विवरण है। अन्य संस्कृत ग्रन्थों में रंगमंच, प्रेक्षकों के बैठने के स्थान आदि के प्रकारों का विवरण प्राप्त होता है।

10.3.2 लोक रंगमंच

विभिन्न विद्वानों का यह विचार है कि भारत में संस्कृत की समृद्ध रंगमंच के युग में लोक मंच की विद्यमान था। संस्कृत नाट्य परम्परा तो मध्य युग में बाधित हो गई परन्तु लोक परम्परा प्रचलन में रही। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई नाट्य शैलियाँ थी इनमें से उत्तर प्रदेश में नौटंकी, रामलीला और रासलीला, बंगाल में जात्रा, बिहार में प्रक्रिया नाट, कीर्तनिया, राजस्थान का ख्याल और कठपुतली, महाराष्ट्र में तमाशा, पंजाब में सांग, नौंटकी, गुजरात में भवई, कर्नाटक में यक्षगायन, आन्ध्रप्रदेश में कुचिपुडि का नाम उल्लेखित है।

लोक नाटक रूपों की उत्पत्ति संस्कृत नाट्यग्रन्थों में वर्णित संगीतक में मानी जाती है। इनमें पाँच तत्व वर्णित है– गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला, नट–नटी। लोकनाटक के विषय दो तरह के होते हैं– लौकिक तथा धार्मिक। रामलीला और रासलीला मुख्य रूप से धार्मिक नाट्य शैलियाँ है तथा कीर्तनियाँ, झांकिया नाट में भी धार्मिक कथाओं को ही प्रदर्शित किया जाता है। नौटंकी, स्वांग, भांड, तमाशा आदि लौकिक प्रसंगों पर आधारित नाटक है।

10.3.3 आधुनिक रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच परम्परा तीन रंग परम्पराओं से सम्बन्धित है–

1. संस्कृत रंगमंच परम्परा
2. लोक रंगमंच परम्परा
3. पाश्चात्य रंगमंच परम्परा

पाश्चात्य रंगमंच परम्परा ही आधुनिक रंगमंच परम्परा का आधार कही जा सकती है। आधुनिक भारतीय रंगमंच का आरम्भ अंग्रेजों के आगमन के पश्चात हुआ। अंग्रेजों ने अपने शासन, व्यवस्था और व्यापार के केन्द्र के रूप में कलकत्ता, पश्चिम में बम्बई, सूरत तथा दक्षिण में मद्रास को विकसित हुआ और यहाँ अपने मनोरंजन की आपूर्ति के लिए इन नगरों में थियेटर स्थापित किए।

कलकत्ता में रुसी मूल के पलेकदेक ने बंगाली थियेटर नाट्यशाला की स्थापना की। डिसगाइज तथा लव इन दि बेस्ट डॉक्टर नामक नाटकों का रूपान्तरण कर प्रदर्शन

EXP-001/EXP-006

किया। इसके पश्चात् कई जगहों पर थियेटर निर्मित कर नाटक किए गए।

नाटकों के व्यावसायिक प्रदर्शन के लिए थियेट्रिक्स कम्पनियाँ बनी जिनमें पारसी थियेटर कम्पनी अधिक प्रसिद्ध हुई। थियेट्रिकल कम्पनियों ने विभिन्न प्रदेशों का दौरा किया और खूब पैसा अर्जित किया और भारतीय भाषाओं में नाटक लिखने और नाटकों के प्रति लोगों में रुचि जगाने में बहुत मदद की।

भारत में नाटकों की परम्परा सुखांत नाटको के रूप में विकसित हुई परन्तु पश्चिम में दुखांत नाटकों को अधिक महत्व दिया गया। आधुनिक भारतीय रंगमंच ने आरम्भ में परम्परागत ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों पर नाटक की रचना की। भारतीय रंगमंच ने संस्कृत नाट्य शैलियों और लोक नाट्य शैलियों से प्रेरणा लेकर कई परिवर्तन किए। पारसी थियेटर के नाटकों में संगीत, गीत और नृत्य का इतना अधिक महत्व लोक नाट्य शैलियों का ही परिणाम था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में भारतीय रंगमंच में अपने को समृद्ध और नवीन बनाने में लोक नाट्य शैली और संस्कृत नाट्य परम्परा दोनों से बहुत सहयोग प्राप्त किया। बाइल सरकार, मित्र, विजय तेंदुलकर, बी वी कारंत, ऊपल दत्त आदि भिन्न नाट्य कर्मियों ने नाट्य प्रस्तुति में रंग विधान के भी कई नये प्रयोग किए।

10.4 भारत में नाट्य परम्परा

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के उत्पत्ति के विषय में वर्णित किया है कि ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय, अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पांचवे नाट्यवेद की रचना की। भारत में नाट्य लेखन की परम्परा के उद्भव के विषय में पर्याप्त मतभेद है परन्तु भरतमुनि के ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में अनेक नाटकों का वर्णन प्रापत होता है। संस्कृत नाटककारों में श्रेष्ठ कालिदास को श्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। इनका समय काल 5वीं शताब्दी ई0 है। इनसे पूर्व के नाटककारों में भास, सौमित्त और कविपुत्र का वर्णन किया जाता है। पाणिनी के अष्टाध्यायी में भी सिलाली और कुशास्प के नट्सूत्रों का वर्णन है।

कुछ विद्वान भारत में नाटक का आरम्भ विष्णु प्रजा से आरम्भ हुआ मानते है। कुछ नाटक का आरम्भ पुतलियों के नाच से मानते है। बुद्ध इसका मूल वेदों से तथा कुछ ग्रीक परम्परा का प्रभाव मानते है। कुछ विद्वानों ने मृत पूर्वजों की पूजा और छाया नाटकों से नाटकों का सम्बन्ध मानते है।

EXP-001/EXP-006

10.4.1 संस्कृत नाटक–

संस्कृत में नाटक को काव्य के अंतर्गत वर्णित किया गया है। काव्य के दो भेद माने गये है– श्रव्य और दृश्य।

श्रव्य काव्य वह है जिसका आनंद सुनकर लिया जाता है जैसे कविता और कहानी। दृश्य काव्य वह होते है जिनका आनन्द देखकर लिया जाता है जैसे नाटक, नाटक को भारतीय परम्परा में रूपक भी कहा जाता है। संस्कृत में 10 प्रकार के रूपकों का विवरण प्राप्त होता है जैसे– नाटक, प्रकरण, भाणो, व्यायोग, समवकार, किम, ईहामृग, अंक, वीथी, प्रषाण इनमें एकांकी, एकालाप से लेकर पूरे नाटक तक सभी सम्मिलित हैं

दूसरी–तीसरी शताब्दी के भास ऐसे पहले संस्कृत नाटककार है जिनके नाटक उपलब्ध है। इनमें स्वप्नवासवदत्ता सर्वाधिक उल्लेखनीय है। भास में भी पूर्व अश्वघोष के नाटक सारिपद प्रकरण भी विशेष उल्लेखनीय है। भास के बाद सदी माना जाता है। कालिदास के द्वारा रचित तीन नाटक मालविकाग्निमित्र, विक्रमोवशीयम, अभिज्ञान–शाकुन्तलम विशेष महत्व की है। कालिदास की रचनाएँ सुखांत होते हुए भी विविध रंग, अंतः और बाह्य संघर्ष से परिपूर्ण है। शूद्रक कृत मृच्छकोटिकम् भी एक यथार्थवादी नाटक है जिसमें संस्कृत नाटकों के अभिजात्य गरिमा के विपरीत पात्रों का चयन किया गया है।

सातवीं और आठवीं सदी के अपभूति और विशाखदत्त अन्य उल्लेखनीय है। भवभूति के महावीर चरित, मालती माधव, उत्तररामचरित नाटकों का विवरण मिलता है। विशाखदत्त का नाटक मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त और चाणकय की कथा पर आधारित है जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि नाटक के लिए राजनीतिक विषय भी प्रभावशाली है।

हर्ष की रत्नावली, नागानन्द, प्रियदर्शिका, महेन्द्रविक्रमवर्मन का कत्तिवलास, भट्टनारायण का वेणीसंहार, मुरारी का अनर्घ राघव, राजशेखर का बालरामायण, कुहण मिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय उल्लेखनीय नाटक है। संस्कृत नाटकों की मुख्य विशेषता मनुष्य के पुरुषार्थ और भाग्य का संघर्ष है। इस संघर्ष में मनुष्य की विषमताओं, यातनाओं का वर्णन है। संस्कृत के इन परम्परा को आधुनिक नाट्य कर्मियों में मंचित करने के कई प्रयास किए है।

10.4.2 संस्कृतोत्तर नाटक

भारत में नाटकों की परम्परा किस भाषा में आरम्भ हुइ इस पर मतभेद हैं परन्तु सबसे प्राचीन नाटक संस्कृत में ही उपलब्ध है। संस्कृत नाटकों के विकास का श्रेय भास, शुद्रक, विशाखदत्त, कालिदास, भवभूति आदि को दिया जाता है। इन विद्वानों ने

EXP-001/EXP-006

कथावस्तु, पात्रों का चरित्र चित्रण, काव्यात्मकता और अभिनेयता की दृष्टि से नाटकों को उत्कृष्ट गरिमा प्रदान की है।

रासलीला, रामलीला, जात्रा, यक्षगान, अंकिया नाट आदि में भार्वतमूलक कथाओं और देवी–देवताओं की चरित लीलाओं के प्रदर्शन ने जन सामान्य की भक्ति भावना को तृप्त करने के साथ उनका मनोरंजन भी किया। कठपुतलियों, भाण, ख्याल, छाया नाटक आदि। शैलियों में लौकिक जीवन की रोचक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

10.4.3 आधुनिक नाटक

नाटकों के प्रति रूचि जागृत करने का श्रेय अंग्रेजों को दिया जाता है। थियेटरों में हिन्दुस्तानियों के नाटक न होने के कारण विद्वानों ने नाटकों का अपने भाषा में अनुवाद किया। काली प्रसन्न सिंह ने 1857 में कालिदास के नाटक विक्रमोउवर्शीयम का विद्योत्साहिनी के नाम से अनुवाद हुआ। रामनारायण तर्करत्न ने वेणी संहार, रत्नावली, अभिज्ञानशाकुन्तलम और मालती माधव का अनुवाद किया।

आरम्भ में लिखे गए नाटकों में धार्मिक और नैतिक चेतन की प्रधानता थी। राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति भी नाटकों में प्रमुखता प्राप्त की जिसमें नाटककारों ने ऐतिहासिक कथानक और पात्रों का चुनाव किया। इन नाटकों में साहस, त्याग, करूणा, उज्जवल भविष्य का अंकन प्राप्त होता है।

दीनबन्धु मित्र ने अंग्रेजी साम्राज्य के पोषण के प्रखर रूप नील की खेती को आधार बनाकर नीलक्षीण नामक नाटक लिखा जिसमें राष्ट्रीय चेतना का आधार प्रस्तुत होता है। लक्ष्मीकांत बेजबरुआ का चक्रध्वज सिंह और विमलानन्द बरुआ की पराई घाट राष्ट्रीय चेतना पर ही आधारित नाटक है। हिन्दी में भारतेन्दु ने भारत दुर्ददशा, भारत जननी, अंधेर नगरी प्रहसनों के द्वारा राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

10.4.4 स्वतन्त्र्योत्तर भारतीय नाटक–

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय नाटक के कथ्य और शिल्प दोनों में परिवर्तन आया। दूसरे देशों के महायुद्ध और विभाजन ने भारतीय समाज को प्रभावित किया। आजादी के पश्चात् साधारण जन की परेशानियों में वृद्धि हुई और साथ ही साथ ऐसे वर्ग का विकास हुआ जिसके लिए अपने हित व स्वार्थ से बढ़कर और कुछ नहीं था। विज्ञान और औद्योगीकरण का विकास हो रहा था जिससे लोग प्रभावित हुए।

पांच अंकों के नाटक, जिसके प्रत्येक अंक में कई दृश्य होते थे उनकी संख्या तीन तत्पश्चात् एक हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति में लिखे गए ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य राष्ट्रीय गौरव की अभिव्यक्ति था परन्तु इस काल में वर्णित ऐतिहासिक नाटकों में

EXP-001/EXP-006

इतिहास को नई दृष्टि से देखने, समझने का प्रयास निहित है। इन नाटकों में असमिया में उत्तर बरुआ का नाटक वर्ण पुलेवरी, कन्नड़ में पी. लंकेश का संक्रान्ति, गिरीष कनीड का तुगलक, हिन्दी में धर्मवीर भारतीय का अन्धायुग उल्लेखनीय नाटक है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के काल में पौराणिक प्रसंगों का भी मनुष्य की जटिल मनोभावनाओं और अंतर्द्वंदो के चित्रण का प्रयोग किया। बंगला में बुद्धदेव बसु ने काल संध्या आदि उल्लेखनीय है।

इस समय में आर्थिक विषमता, आक्रोश, समाज में नारी की दयनीय स्थिति, दलित और उत्पीड़ित समाज की वेदना। ग्रामीण जीवन के कष्ट, अमानवीयता, मध्यवर्ग का दिखावा आदि को दृष्टि में रखकर नाटक की कथावस्तु की रचना की गई। इन से सम्बन्धित नाटकों में मोहन राकेश का आधे अधूरे मुद्राराक्षस का तिलचट्टा, शंकर रोष का एक और द्रोणाचार्य आदि उल्लेखनीय है।

10.5 आधुनिक भारतीय रंगमंच

आधुनिक रंगमंच का आरम्भ कलकत्ता में 1765 ई. में लेवेदेफ द्वारा हुई। मुम्बई में पहला थियेटर 1776 में आरम्भ हुआ। कई थियेट्रिकल कम्पनियाँ आरम्भ हुई। इन थियेट्रिकल कम्पनी में पारसी थियेटर के नाम की कम्पनियाँ विशेष उल्लेखनीय है। पाश्चात्य शैली का अभिजात्य रंगमंच प्रायः बड़े शहरों और शिक्षित सम्पन्न दर्शकों तक ही सीमित था। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन की स्थापना हुई जिनमें रंगमंच के अभाव को पूरा किया।

10.5.1 पारसी रंगमंच–

फारस रसे भारत के पश्चिमी समुद्र तटीय क्षेत्रों में आकर बसने वाले लोगों को पारसी के नाम से जाना जाता है। बम्बई इस समुदाय का मुख्य गतिविधि केन्द्र था। 1835 में सर जमशेद जी ने 1819 के थियेटर को खरीद लिया। 1846 में बम्बई के मशहूर जगन्नाथ शंकर सेठ ने बम्बई के ग्राण्ट रोड थियेटर के नाम से थियेटर बनी।

बम्बई थियेटर पर लंदन के ड्रेरी लेन थियेटर का प्रभाव था। ग्राण्ट रोड थियेटर शुरु के 10 सालों तक कठिनाईयों से चला। इन थियेटरों में किसी का डर न होने के कारण लोग थियेटरों में शोरगुल करते थे। आरम्भ में थियेटर की दरे अधिक थी। 1853 तक ग्राण्ट रोड थियेटर पर अंग्रेजी नाटक ही खेले जाते रहे हिन्दू दर्शकों की संख्या बढ़ती गई नाटक भी हिन्दुस्तान की भाषाओं में खेले गए। बम्बई में पारसी ड्रामेटिक कोर का जन्म हुआ जिसके द्वारा ग्राण्ट रोड थियेटर में रूस्तक जबोली और सोहराब नामक गुजराती नाटक प्रस्तुत किए गए। 6 मई 1854 को तीखे खां नाम से एक प्रहसन खेला

EXP-001/EXP-006

गया जो हिन्दुस्तानी भाषा में थी।

पारसी थियेटर में काम करने वाले अभिनेता ज्यादातर पारसी भाषा में थे। ये अपने नाटकों का प्रसार करने हेतु विज्ञापन का कार्य करते थे। 1853 में एक और पारसी नाटक मण्डली की स्थापना पेस्तनजी धनजी के द्वारा की गई जो अभिनय का भी कार्य किया करते थे।

पारसी नाटक मण्डली के प्रमुख नाटककार वामनजी कावसूजी जहांजी नशेरबाजी पटेल थे। वामनजी के नाटकों में भोली गुल, बागे बहिस्त, वापना श्राप, नूरे नेकी आदि उल्लेखनीय है।

1867 में विक्टोरिया नाटक मण्डली की भी स्थापना हुई। नाटकों का अभिनय कार्य निर्देशकों के देख–रेख में सम्पन्न होता था। बम्बई में कई प्रेक्षागृह जैसे इरौस थियेटर, एडवर्ड थियेटर, एम्पायर थियेटर, एस्प्लेनेड थियेटर, नावल्टी थियेटर, विक्टोरिया थियेटर आदि की स्थापना हुई। जो 1980 के आस–पास सिनेमा, घरों में परिवर्तित हुए। पारसी थियेटरों में पारसी– नाटककार ही सामने आए। इनमें कावसजी कैखुसरों नवरोजजी बेजन मनीजेह, लवकुश, फरेदन, खेदाबख्श, नरजेहान, सती सावित्री, मेड हाउस, धरती कम्प, हनीमून आदि प्रसिद्ध है।

पारसी नाटक मण्डलियों के उर्दू–हिन्दी में रचित नाटककारों में अब्बास अली अब्बास मोहम्मद इब्राहीम, अम्बावली, हुसैन मियां, जरीफ, विनायक प्रसाद, नारायण प्रसार, खूने नाहक, राधोश्याम आदि के नाम आते है। जारोस्टियन थियेट्रिकल क्लब (1866), एम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मण्डली (1876), कोरोथियन थियेटर भी विशेष महत्व के है। कराची, जोधपुर, आगरा, अलीगढ़, हैदराबाद, मेरठ, लखनऊ, लाहौर में पारसी थियेटर की मण्डलियाँ बनी।

पारसी थियेटर में इंदर सभा का विशेष स्थान है। इंदर सभा के लेखक सैयद आगा के हुसन थे इनकी रचनाऐ अमानत उपनाम से लिखी जाती थी। पारसी थियेटरों पर शोध कार्य सोमनाथ गुप्त ने की जो इंदर सभा से प्रभावित होकर की गई थी। दैवे, परी, इंद्र, शाहजादो के कमानी किस्से और उनका प्रदर्शन कार्य भी इंदर सभा नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ये नाटके कविताबद्ध श्रेणी में रचित थी जिनमें छन्दों व राग–रागिनियों का प्रयोग किया गया था। जो उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषाओं में रचित थी। ये सभी रचनाऐ तिलस्म व जादू के परिवेशों से समाहित थे। 1939 में सवाके सिनेमा के आगमन के साथ पारसी थियेटर की उपयोगिता समाप्त हो गई।

EXP-001/EXP-006

10.5.2 अभिजात्य रंगमंच

समाज का शिक्षित समुदाय जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा के कारण पश्चिम के नाटकों को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ और अंग्रेजी द्वारा स्थापित थियेटर को देखने का अवसर प्राप्त हुआ जिन्हें न ही पारसी थियेटर अच्छे लगे और न ही इंग्लिश थियेटर। इन लोगों ने नये रंगमंच आभिजात्य रंगमंच की नीव प्रस्तुत की। जिनका आरम्भ कोलकाता शहर से माना जाता है। 1833 में कलकत्ता शहर से माना जाता है। 1833 में कलकत्ता में नवीनचन्द्र बसु के घर पर थियेटर निर्मित हुआ और यहाँ प्रत्येक वर्ष चार–पांच बांग्ला नाटक खेले जाते थे। 1835 में विद्यासुंदरी नाटक खेला गया स्त्री चरित्र भी पुरुषों के द्वारा ही खेले जाते थे तथा खेले जाने वाले नाटक मुद्रित होकर प्रकाशित होते थे। 1857 में बांग्ला नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में नये युग का आरम्भ हुआ और बंगला में प्रकाशित चार नाटक तीन अलग–अलग थियेटरों में खेले गए। बंगला के कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने अंग्रेजी नाटकों को देखा और उसी स्तर के नाटकों को बांगला में लिखा। मधुसूदन दत्त के ऐसे नाटक में शर्मिष्ठा नाटक 3 सितम्बर 1859 में खेला गया।

कानपुर के रंगमंच की स्थापना प्रतापनारायण मिश्र ने कराई। भारतीय रंगमंच दो धाराओं में विभक्त हुआ एक धारा के अंतर्गत अभिजात्य कलात्मक, प्रयोगशील रंगमंच की थी तथा दूसरी तरफ जनोन्मुखी रंगमंच भी विकसित हुआ जिसने भारतीय रंगमंच को सोद्‌देश्यता दी।

10.5.3 जनोन्मुखी रंगमंच

दीनबन्धु मित्र का नाटक नील दर्पण, भारतेन्दु का प्रहसन अंधरे नगरी, मधूसूदन दत्त के प्रहसन बूदे शालिके घरे रन ऐसे नाटक थे जिनमें साम्राज्यवादी, सामंती पोषण, उत्पीड़न के विरूद्ध जनता के संघर्ष को नाटकों का विषय बनाया। 1930 में राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष में वामपंथी प्रभाव में वृद्धि हुई किसानों, मजदूरों, विद्यार्थियों के अखिल भारतीय संगठन अस्तित्व में आए और इनकी अभिव्यक्ति साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में हुई। 1936 में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। 1943 में इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन का प्रथम सम्मेलन हुआ।

जनता को राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में भागीदार बनाने साम्राज्यवाद और फासीवाद के हमले से संस्कृति की रक्षा के लिए हर तरह के शोषण और उत्पीड़न से जनता को मुक्ति दिलाने, धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध जागृति पैदा करने तथा मानवीय सौन्दर्याभिरुचि का संस्कार जगाने का महत्व कार्य इप्टा के द्वारा हुआ। प्रथम सम्मेलन में ही इप्टा से मामा वरेरकर, मख्द्रुम मोहिउद्‌दीन, डॉ0 राजा राव, शम्भू मित्र, ख्वाजा अहमद

EXP-001/EXP-006

अब्बास, सज्जाद जहीर आदि महान लेखक जुड़े। इप्टा ने नाटक, गीत, संगीत, नृत्य और फिल्म निर्माण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1944 में उदयशंकर ने इप्टा के सहयोग से मजदूरों के सामने अपना रामलीला नामक नाटक प्रस्तुत किया।

इप्टा का मुख्य कार्य क्षेत्र बंगाल, आन्ध्रप्रदेश, केरल था तथा इनकी गतिविधियाँ पंजाब, असम, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र में भी थी। इप्टा ने क्षेत्रीय रंगमंच के प्रोत्साहन में काफी योगदान दिया। क्षेत्रीय रंगमंच ने लोक नाटक शैलियों का प्रयोग नये नाट्य रूपों के रूप में किया। इप्टा ने अपने नाटक प्रायः मजदूरों और किसानों के बीच खेले गए। वामपंथी और जनवादी आंदोलन में भी इप्टा ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया और लोकप्रिय बनाने में अथक प्रयास किया।

इप्टा के जन नाट्य आंदोलन के प्रभाव में आन्ध्रप्रदेश में पूजा नाट्य मण्डली स्थापित हुई जिन्होंने क्षेत्रीय भाषा में लोक नाट्य शैलियों का प्रयोग करते हुए नाटक प्रस्तुत किया। केरल में केरल पीपुल्स आर्ट्स क्बल ने मालाबार और उत्तरी त्रावनकोर में किसान संगठनों के साथ मिलकर नाटक प्रस्तुत किया। असम में ज्योति प्रसाद अग्रवाल और भूपेन हजारिका तथा उड़ीसा के के. पटनायक इप्टा से जुड़े हुए थे। 1946 में ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में बनी। धरती के लाल इप्टा से जुड़े बलराज साहनी, रविशंकर, कृष्णचन्द्र, चेतन आनन्द, पृथ्वीराज कपूर ने इन क्षेत्रों में विशिष्ट योगदान दिया।

1953 में प्रगतिशील लेखक संघ के शिथिल होने से इप्टा में शिथिलता आई। इससे जुड़े लेखकों में संगीतकार, गायक और अभिनेता भी थे जो सिनेमा से जुड़े हुए थे परन्तु बाद में इप्टा समाप्त हो गए। 1970 के आसपास जन आंदोलनों में गति हुई तो नाटककारों का ध्यान नाटकों पर अग्रसित हुआ। बंगाल और केरल, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, त्रिपुरा, पंजाब आदि राज्यों में ऐसे कई नाटक संघ उभरे, जिन्होंने जन आंदोलनों के साथ मिलकर जनोन्मुखी नाटक अभिनीति किए। जन नाट्य मण्डलियों पर निहित स्वार्थों का भी प्रसार हुआ।

10.6 विभिन्न नाट्य शैलियाँ

क्षेत्रीय भाषाओं के विकसित रंगमंच के साथ ही साथ नवीन नाट्य शैलियों का विकास हुआ। पाश्चात्य, संस्कृत, लोक नाट्य शैलियों ने भारतीय रंगमंच के स्वरूप को निर्मित करने में मदद की। नाटकों के लेखन और प्रदर्शन को सिर्फ भिन्न नाट्य शैलियों ने प्रभावित किया।

EXP-001/EXP-006

10.6.1 पाश्चात्य नाट्य शैली

भारतीय रंगमंच के विकास में पश्चिम नाट्य शैलियों का योगदान विशिष्ट है। आधुनिक भारतीय रंगमंच पर एलिजाबेथ थियेटर का प्रभाव परिलक्षित होता है। आरम्भ में बम्बई थियेटर में एलिजाबेथ शैली के प्रेक्षागृह खोले गएउ। यथार्थवादी नाट्य शैली के साथ–साथ रंगमंच पश्चिम के कला सम्बन्धी आंदोलनों से प्रभावित था। इनमें प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, अतिप्रकृतवाद, विसंगतिवाद प्रमुख है। विसंगत नाटक शैली छठे दशक के बाद के भारतीय रंगमंच पर भारी था।

10.6.2 संस्कृत नाट्य शैली

संस्कृत नाट्य परम्परा आधुनिक भारतीय रंगमंच पर दो रूपों में थी। प्रथम श्रेणी में संस्कृत के प्रख्यात नाटक भारतीय भाषाओं में खेले गए जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मृच्छकटिकम्, स्वप्नवासवदत्ता, मुद्राराक्षस आदि। दूसरे श्रेणी में नाटको को आधुनिक नाटकों के नाट्यशास्त्र में बताए रंगमंचीय नियमों के आधार पर खेले गए।

10.6.3 लोक नाट्य शैलियाँ

परम्परागत लोक नाट्यों का प्रभाव संस्कृत शैली के मुकाबले में अधिक था। परम्परागत नाट्य शैलियों का आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में सफलतापूर्वक प्रयोग जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, रतन कुमार थियम, बंसी कौल, हबीब तनवीर प्रसन्ना आदि में प्रस्तुत होता है। पश्चिम के नाटकों को लोक नाट्य शैली में प्रस्तुत करने में विजया मेहता, अतिजेष बंधोपाध्याय, एम0 के0 रैना आदि विशेष है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में स्वतंत्रता से पूर्व सरकारी योगदान नाम मात्र थे परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् रंगमंच के प्रोत्साहन के लिए कई संस्थाओं ने सहयोग दिया। राष्ट्रीय स्तर पर संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हुइ तो राज्यों के स्तर पर भी कई अकादमियाँ निर्मित हुई। विभिन्न राज्यों ने अपने यहाँ की परम्परागत लोक नाट्य शैलियों की संरक्षित थी। नाट्यों के लिए अभिनय, मंच सज्जा, निर्देशन आदि। विभिन्न रंग क्रियाओं का प्रशिक्षण देने के लिए नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की स्थापना की गई। दिल्ली के राष्ट्रीय संस्थान में निर्देशक इब्राहीम अलकाजी ने भारतीय रंगमंच के स्तरों को प्रगतिशील किया तथा रंगकर्मियों, अभिनेताओं को शिक्षित करने में योगदान दिया।

आज भारतीय रंगमंच बाहरी और आंतरिक कठिनाईयों के साथ–साथ विद्यमान है और यह अनवरत् चलने वाले नाट्य प्रदर्शनों द्वारा सिद्ध होता है कि रंगमंच का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होगा।

EXP-001/EXP-006

10.7 सारांश

भारत में रंगमंच परम्परा का आरम्भ विदेशियों की प्रेरणा से हुआ परन्तु नाट्य लेखन की परम्परा प्राचीनकाल में विकसित हो गयी थी। कालिदास एवं भवभूति सभृति विद्वानों ने आधुनिक रंगमंच की आधारशिला रखी। संस्कृत एवं आंग्ल भाषा के अनुवादों से आरम्भ रंगमंच परम्परा धीरे–धीरे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक मुद्दों के प्रदर्शन का सबल माध्यम हो गयी। दीनबन्धु मित्र, मानकेल मधूसूदन दत्त, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मामा वरेरकर, कुसुमाग्रज, पी0 लंकेश, गिरीश कर्नाड, विजय तेन्दुलकर, बादल सर काकर, मोहन राकेश, जी0 पी0 देशपाण्डे आदि नाटककारों ने भारतीय रंगमंच के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया। भारतीय रंगमंच के विकास में पारसी थियेटर, वामपंथी जनान्दोलन से जन्मे जनोन्मुखी रंगमंच तथा लोकनाट्य शैलियों ने भी उल्लेखनीय योगदान दिया।

10.8 बोध प्रश्न

- क्षेत्रीय रंगमंच परम्परा पर टिप्पणी लिखिए।
- भारतीय रंगमंच के आरम्भिक विषयों पर निबन्ध लिखिए।
- जनोन्मुखी रंगमंच के उदय के कारकों पर प्रकाश डालिए।

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आनन्द मुल्कराज, इंडियन थिएटर,न्ययार्क,1951
2. रंगाचार्य आद्य, इंडियन थिएटर,नई दिल्ली,1971
3. वरदपांडे, एम.एल, ट्रेडिशन्स आफ इंडियन थिएटर, नई दिल्ली, 1978
4. गार्गी बलवन्त, थिएटर इन इंडिया,न्यूयार्क,1962

EXP-001/EXP-006

इकाई 11– भारत में नाट्य परम्परा–शास्त्रीय एवं आधुनिक नाटक

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 शास्त्रीय नाट्य परम्परा

11.3.1 नाट्यशास्त्र

11.3.2 मृच्छकटिका

11.3.3 भास के नाटक

11.3.4 कालिदास

11.3.5 मुद्राराक्षस

11.3.6 अन्य प्रमुख नाटक एवं नाटककार

11.4 नाटकों का प्रदर्शन

11.5 आधुनिक संस्कृत नाटक

11.6 सारांश

11.7 बोध प्रश्न

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.1 प्रस्तावना

भारत के विभिन्न विधाओं में नाट्य परम्परा की अनेक विशेषताए है। भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल की है जिसके विषय में सूचनाऐं हमें भरतमुनि की रचना नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। अन्य नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थों में धनंजय कृत दशरूपक तथा विश्वनाथ द्वारा रचित साहित्य दर्पण का विशेष उल्लेख है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की गणना पंचमवेद के रूप में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई है। देवताओं की प्रार्थना पर समस्त मानवों के मनोरंजन के साधन के रूप में ब्रह्मा द्वारा नाट्य वेद ग्रन्थ की रचना की जिसमें ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गाान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य वेद का संकलन हुआ।

EXP-001/EXP-006

जागृत पाठयं ऋग्वेदांत सामभ्यों गीतमेव च।

यजुर्वेददिभिनयानं रसमाथर्वणा दपि।।

भारतीय नाट्य की परम्परा संस्कृत से हिन्दी में परिणित हुई जो गद्य रूप में विकसित हुई। वैदिक साहित्य से लौकिक साहित्य, लौकिक साहित्य से पाली साहित्य, पाली के बाद प्राकृत साहित्य, प्राकृत के बाद अपभ्रंश साहित्य आदि अन्य विधाओं में नाट्य का आविर्भाव हुआ। नाटक की रचनाशैली पद्यात्मक से गद्यात्मक रूप में परिलक्षित होता है। विद्वानों के अनुसार ''कला की सफलता वहाँ हैं जहाँ मनुष्य अपने को भूल कर तल्लीन हो जाय वह किसी आदर्श के लिए न हो, केवल अपने लिए अपनी स्थिति रखती हो।'' नाटक में दृश्य, श्रव्य तथा कला की दृष्टि मूर्त और अमूर्त रूपों का प्रयोग है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

1. भारत में नाट्य परम्परा के विविध आयामों के विषय में।
2. नाट्य परम्परा के विभिन्न विधाओं के विषय में।
3. प्रमुख नाटक एवं नाटककार के विषय में।

11.3 शास्त्रीय नाट्य परम्परा

भारतीय शास्त्रीय नाटक प्राचीन भारत में नाटकीय साहित्य एवं प्रदर्शन की परम्परा को इंगित करता है। भारत में नाट्य परम्परा का विकास ऋग्वेद से दिखलायी पड़ती है जिसमें संवादों के रूप में कई कथाओं के रूप में वर्णित है। शास्त्रीय रूप में भारतीय नाटक का आरम्भ तीसरी चौथी शताब्दी ई0पू0 में रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में परिलक्षित होता है।

बौद्ध नाटककार कवि दार्शनिक अश्वघोष को भी संस्कृत का नाटककार कहा गया है जिन्होंने त्रासदियों के रूप में नाटकों की रचना दूसरी शताब्दी ई0 पू0 के आस–पास की थी। शास्त्रीय नाटकों में मुख्यतः संस्कृत तथा साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं में नाटक की रचना की गई तथा इन नाटकों में नायक, नायिका, विदूषक जैसे पात्रों का भी अंकन किया गया है जिनमें अभिनेता के अंदर कुछ विशिष्ट विशेषताएँ निहित होती है जो उसे अन्य पात्रों से भिन्न व विशेष बनाता है। संस्कृत नाटक का आरम्भिक स्वरूप कैसा रहा होगा? इसकी शुरुआत कैसे हुई होगी? 126 जैनियों पर कुछ प्रकाश पतंजलि के ग्रन्थ महाभाष्य के द्वारा पड़ता है।

EXP-001/EXP-006

प्राचीन भारत के महान व सर्वोत्कृष्ट नाटककारों में कालिदास का विशेष है। इन्होंने चौथी–पांचवी सदी में नाटक विधा के क्षेत्र में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया। कालिदास ने तीन नाटक मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वषियम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की रचना की। जिनका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ। अन्य प्रसिद्ध नाटककारों में भवभूति का भी विशिष्ट सीान है। इन्होंने 7वीं शताब्दी ई0 में तीन नाटक मालवी माधव, महावीरचरित, उत्तररामचरित ग्रन्थ की रचना की। सम्राट हर्षवर्द्धन ने भी तीन नाटकों रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द की रचना की। संस्कृत नाटककारों में शूद्रक, भास, अश्वघोष का विशिष्ट स्थान है।

भारतीय शास्त्रीय नाटक पर लिखे गये ग्रन्थ तथा उनमें निहित सूचनाओं का विवरण निम्नवत् है–

11.3.1 नाट्यशास्त्र

संस्कृत नाटक का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत नाट्यशास्त्र है। इसके रचना का श्रेय भरतमुनि को प्राप्त है। इस ग्रन्थ का विश्व में नाट्यशास्त्र में विशेष स्थान है। इस ग्रन्थ द्वारा अभिनय, नृत्य, संगीत, नाटकीय निर्माण, वास्तुकला, वेशभूषा, साज–सज्जा, कम्पनियों के संगठन दर्शक, प्रतियोगिताओं आदि का विवरण प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ नाट्य का एक पौराणिक चित्रण प्रस्तुत करता है। संस्कृत नाट्यों का रंगमंच पर प्रदर्शन कार्य भी पवित्र भूमि सीलों पर ही सम्पन्न किया जाता था। जिसका मुख्य उद्देश्य ज्ञान व मनोरंजन को प्राप्त करना था।

शाही अदालतों के संरक्षण में पेशेवर कम्पनियों के संरक्षण में कलाकार अभिनय का कार्य करते थे जिन्हें निर्देशन देने का कार्य मंच प्रबन्धक द्वारा किया जाता था। अभिनयकर्त्ताओं को गायन और शारीरिक तकनीक में पूर्णतः दक्ष किया जाता था। कम्पनियों में पुरुष महिला और बच्चों को समान सीान प्राप्त था। नाटकों में कुछ कलाकार अपने ही उम्र के नाट्य को प्रदर्शित करते थे तथा कुछ अपने से कम उम्र के अथवा अपने से अधिक उम्र का नाट्य प्रदर्शित करते थे। सभी तत्वों में से अभिनय का अधिक महत्व था जिनकी दो शैलियाँ यथार्थवादी (लोकधर्मी) और पारम्परिक (नाट्यधर्मी) प्रमुख है।

11.3.2 मृच्छकटिका

इस नाटक की रचना शूद्रक द्वारा दूसरी शताब्दी ई0 पू0 में की गई। नाटक में कई उतार–चढ़ाव नाटककार द्वारा प्रदर्शित किया गया है। मुख्य कहानी चारूदत्त नाम के एक युवक की है जिसने एक अमीर वैश्या अथवा नगरवधू वसंतसेना से प्रेम किया। इस

EXP-001/EXP-006

वैश्या से एक शाही दरबारी भी प्रेम करता था जिसके कारण कथानक जटिल हो गया। इस प्रकार यह नाटक दर्शकों को बहुत अधिक प्रफुल्लित करता है और मनोरंजन की दृश्टि से भी उत्तम है। 1924 में न्यूयॉर्क में रंगमंच पर इस नाटक को प्रदर्शित किया गया और इसे व्यापक प्रशंसा प्राप्त हुई। इस नाटक पर आधारित 1984 में गिरीश कर्नाड द्वारा एक हिन्दी फिल्म उत्सव बनी। 2001 में मौलिन रुज फिल्म में भी भारतीय नाटक को प्रदर्शित किया गया।

11.3.3 भास के नाटक–

भास द्वारा रचित नाटकों की सूचना हमें बाद 128 जिन लेखकों के संदर्भों के द्वारा ज्ञात हुई क्योंकि पाण्डुलिपि की प्राप्ति नहीं हुई। भास द्वारा रचित 13 नाटकों की पाण्डुलिपियाँ 1913 में गणपति शास्त्री द्वारा त्रिवेन्द्र पुस्तकालय में प्राप्त हुई। एक अन्य 14वाँ नाटक भी प्राप्त हुआ जिसके रचना का श्रेय भास्य को दिया जाता है पर इस पर विद्वानों में मतभेद है। भास द्वारा रचित नाटकों में स्वप्नवासवदत्ता, पंचरात्र, प्रतिज्ञायौगंधरायण प्रमुख है तथा अन्य नाटकों में प्रतिमा नाटक, अभिषेक नाटक, बालचरित, दूतवाक्य, कर्णभार, चारुदत्त, मध्यमाव्ययोग, श्रुभंग आदि विशिष्ट उल्लेखनीय है।

11.3.4 कालिदास

कालिदास चौथी पांचवी शताब्दी ई0 के महान नाटककार के रूप में जाने जाते है। संस्कृत साहित्य में कालिदास का वही सीान है जो अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर का है। कालिदास ने तीन प्रमुख नाटकों विक्रमोर्वशीयम, मालविकाग्निमित्रम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक संस्कृत नाटकों में से अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक संस्कृत नाटकों में सर्वोत्कृष्ट नाटक है। गोएथे को इस नाटक ने अत्यधिक प्रभावित किया जर्मन लेखक गोएथे ने वर्णन किया है कि–

क्या आप युवा वर्ष के खिलने और उसके पतन के काल और वह सब कुछ जिससे आत्मा मंत्रमुग्ध, आनंदित, तृप्त होती है, क्या आप पृथ्वी और स्वर्ग को एक ही नाम से जोड़ देंगे?

हे शकुन्तला, मैं तेरा नाम बताता हूँ और सब कुछ एक ही बार में कहा जाता है।

एडवर्ड बैकहाउस ईस्टवि

कालिदास ने दो महाकाव्य रघुवंश और कुमारसम्भव और दो खण्डकाव्य ऋतुसंहार और मेघदूत की रचना की है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में सरल, सुंदर, संस्कृत का उपयोग किया है तथा उपमाओं को भी व्यापक उपयोग परिलक्षित होता है। उनकी

EXP-001/EXP-006

उपमाओं के कारण इन्हें ''उपमा कालिदासस्य'' की संज्ञा दी गई है।

उपमा कालिदासस्य, भारवेर अर्थ गौरवम्।

दण्डिनः पदललित्यम्, माघो शांति त्रयोगुणेः।।

11.3.5 मुद्राराक्षस–

संस्कृत नाटकों में विशाखदत्त द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस अद्वितीय नाटक है। इसमें राजनीतिक 'ाड्यन्त्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें जीवन की क्रियाओं का वर्णन है जो रूचि से पूर्ण है। इसकी रचना 8वीं शताब्दी में हुई इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पाटलिपुत्र पर शासन का वर्णन है जिन्होंने नन्द राजाओं को सिंहासन से हटाया। नन्द का मंत्री राक्षस अपने स्वामी की तरफ से विद्रोह लेने का असफल प्रयास करता है। चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री चाणक्य राक्षस को अपने पक्ष में कर लेते है।

11.3.6 अन्य प्रमुख नाटक एवं नाटककार

हर्षवर्द्धन द्वारा रचित रत्नावली, नागानन्द, प्रियदर्शिका प्रमुख नाटक है। महेन्द्रवर्मन का मत्तविलास प्रहसन, शक्तिभद्र की आचार्य चूड़ामणि कुलशेखर की सुभद्रा धनंजय, तपसीसंवरण नीलकांत की कल्याण सौगंधिका और कृ'णचरित आदि प्रमुख नाटक और नाटककार है।

11.4 नाटकों का प्रदर्शन

नाटक अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय विधा है, न केवल भारत अपितु विश्व में सभी जगह नाटकों को मंचित करने का कार्य किया जाता है। प्राचीन संस्कृत नाटक मंच कूडियाट्टम में आज भी नाटकों को मंचित करने का कार्य किया जाता था। यह प्राचीनतम संस्कृत नाटक का एक मात्र सुरक्षित 129 है जो वर्तमान में अस्तित्व में है। कूडियाट्टम मंच केरल में स्थित है जिसे संरक्षित करने का कार्य चाक्यार समुदाय द्वारा किया जाता है। संस्कृत नाटक की इसकी प्राचीनता लगभग 2000 वर्श प्राचीनतम जाती है। इनके अतिरिक्त संस्कृत के कई नाटकों का 129 जाता है जैसे भास, श्रीहर्ष, शक्तिभद्र के नाटकों का मंचन।

गुरु नाट्याचार्य विदुशकरत्नम पद्म श्री मणि माध 129 जनयार ने नाट्य मंचन में अपना विशेष योगदान दिया है। मणि माधव ने कालिदास के ग्रन्थ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वषिय, मालविकाग्निमित्र जैसे नाटकों का मंचन कर इन्हें निर्देशित करवाया। कूडिमाट्टम में भास के नाटकों का मंचन करवाया गया। भास के नाटकों में से

EXP-001/EXP-006

स्वप्नवासवदत्ता और पंचरात्र नाटकों का मंचित करने का कार्य किया।

11.5 आधुनिक संस्कृत नाटक

वर्तमान में आधुनिक संस्कृत नाटक का विशेष स्थान है। आधुनिक नाटकाकारों में मनमोहन आचार्य का नाम विशिष्ट है। मनमोहन आचार्य ने कई नाटक और नृत्य नाटकों की रचना की। इनके नाटकों में अर्जुन प्रतिज्ञा, श्रीता कमलम, पाद पल्लवम्, दिव्य–जयदेवम, पिंगला, मृत्यु : स्थितप्रज्ञ, तंत्र–महाशक्ति, पूर्वसंकुल्लम, उत्तर शाकुन्तलम् और रावण आदि प्रमुख नाटकों की रचना का कार्य किया। अन्य प्रसिद्ध नाटककारों में विद्याधर शास्त्री का भी विशिष्ट स्थान व योगदान है। विद्याधर शास्त्री ने तीन नाटकों की रचना 130 जैन 130 नाटकों में पूर्णानन्दम, कालिदैत्यम, दुर्बला बालम इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना है। प्रफुल्ल कुमार मिक्ष ने भी नाटक के क्षेत्र में अपना स्वर्णिम योगदान दिया। इनके नाटकों में चित्रांगदा और करूणा नाटक का विशिष्ट स्थान है।

इन आधुनिक नाटककारों ने अपनी रचना और सर्वोत्कृष्ट कृतियों के माध्यम से नाटक विधा के क्षेत्र को अद्वितीय स्तर पर पहुँचाया।

11.6 सारांश

भारतीय शास्त्रीय नाटक प्राचीन भारत में नाटकीय साहित्य एवं प्रदर्शन की परम्परा को संकेत करता है। भारत में नाट्य परम्परा का विकास ऋग्वेद से परिलक्षित होता है जिसमें संवादों के रूप में कई कथाओं के रूप में वर्णित है। शास्त्रीय रूप में भारतीय नाटक का आरम्भ तीसरी चौथी शताब्दी ई0पू0 में रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में परिलक्षित होता है। नाटक अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय विधा है, न केवल भारत अपितु विश्व में सभी जगह नाटकों को मंचित करने का कार्य किया जाता है। प्राचीन संस्कृत नाटक मंच कूडियाट्टम में आज भी नाटकों को मंचित करने का कार्य किया जाता था। यह प्राचीनतम संस्कृत नाटक का एक मात्र सुरक्षित 130 जैन 130 है जो वर्तमान में अस्तित्व में है।

11.7 बोध प्रश्न

1. भारतीय नाट्य परम्परा के महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
2. भारतीय नाट्य परम्परा की विभिन्न शैलियों का वर्णन कीजिए।

EXP-001/EXP-006

11.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- स्ओनमैन रिचर्ड, भारत का यूनानी अनुभव, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019
- वरदपाण्डे, एम0 एल, भारतीय रंगमंच का इतिहास, अभिनव प्रकाषन, 1987
- रोचल वान एम0 बाउमर, जेमस आर0 बैंडन, प्रदर्शन में संस्कृत नाटक, मोतीलाल बनारसीदास, 1993
- वरदपाण्डे, एम0 एल0, प्राचीन भारतीय और इण्डो ग्रीक रंगमंच, अभिनव प्रकाषन, 1981
- क्लॉस, पीटर, मिल्स मार्गरेट, दक्षिण एषियाई लोकगीत, 2020
- बेरीडेल कीथ, द संस्कृत ड्रामा इन इटस ओरिजिन, डेवलपमेण्ट, थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, मोतीलाल बनारसीदास, 1992
- गौरीनाथ भट्टाचार्य शास्त्री, शास्त्रीय संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाषन, 1987

EXP-001/EXP-006

इकाई 12– भारतीय सिनेमा : भारतीय सिनेमा का परिचय, उद्योग के रूप में भारतीय सिनेमा, भारतीय सिनेमा रू यथार्थ या फ ंटसी

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 भारतीय सिनेमा का परिचय

- 12.3.1 मूक फिल्मों का युग
- 12.3.2 स्वतंत्रता पूर्व वाक फिल्मों का युग
- 12.3.3 स्वतंत्रता के बाद वाक फिल्मों का युग

12.4 उद्योग के रूप में भारतीय सिनेमा

12.5 भारतीय सिनेमारू यथार्थ या फेंटसी

12.6 सारांश

12.7 बोध प्रश्न

12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.1 प्रस्तावना

सिनेमा मनोरंजन का आभासी माध्यम है किन्तु आधुनिक युग में सिनेमा ने समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया है। एक प्राचीन लोकोक्ति है कि श्सिनेमा समाज का दर्पण हैश इसलिए सिनेमा समाज को वहीं परोसता है जो तत्कालीन समाज में हो रहा हो। सिनेमा समाज में धार्मिक , जातीय, भाषायी, लैंगिक खाई को पाटने का प्रयास करता है। सिनेमा किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को विश्व पटल पर रखती है। इसके प्रसार में राष्ट्र की सीमाएं बाधक नहीं बनती। भारतीय सिनेमा एशिया समेत सम्पूर्ण विश्व में अपने प्रभाव का विस्तार किया हुआ है।

12.2 उद्‌दश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- भारतीय सिनेमा के इतिहास एवं उसकी विशिष्टता से परिचित हो सकेंगे।

- भारतीय सिनेमा के क्रमिक विकास से परिचित हो सकेगें।
- भारतीय सिनेमा किस प्रकार उद्योग एवं राजनीति को प्रभावित करता है, जान सकेगें।
- 'भारतीय सिनेमा में अभिनय के तत्वों को रखंकित कर सकेगें।
- 'भारतीय सिनेमा में नृत्य एवं संगीत के तत्व को जान सकेगें।

12.3 भारतीय सिनेमा का परिचय

भारतीय सिनेमा विश्व सिनेमा के समानान्तर ही विकसित हुआ है। विश्व में पहली बार 1895 में सिनेमा की प्रस्तुति लुमियर ब्रदर्श द्वारा कि गयी थी। इसके कुछ ही महीने बाद भारत में भी 1896 में ही बम्बई में सिनेमा की प्रस्तुति की गयी थी। भारत किसी भी क्षेत्र में कितना भी पिछड़ा क्यूँ न रहा हो लेकिन भारतीय सिनेमा, विश्व सिनेमा से कदम मिला कर चला है। भारतीय सिनेमा ने विश्व सिनेमा को भारतीय संस्कृति एवं भौगोलिक पारिदृ'य से परिचित कराया है। भारतीय सिनेमा ने भारतीय समाज को मानसिक प्रगति प्रदान कीया है। 1896 में बम्बई में सिनेमा के प्रदर्शन के बाद 1897 में कलकत्ता में स्टेज शो के माध्यम से एक फिल्म प्रस्तुति की गयी थी। जिसका श्रेय प्रोफेसर स्ओिर्वेसन को दिया जाता है। इसके बाद 1898 में एक भारतीय फोटोग्राफर हीरालाल सेन ने कलकत्ता में हुए स्टेज शो के दृ'यों से द फ्लावर अश्फ पार्शिया नामक फिल्म बनाया था। इसके बाद भारतीय सिनेमा में किसी भारतीय द्वारा शूट की गयी फिल्म छ रेसलर्स थी जो एच. एस. भटवडेकर द्वारा शूट की गयी थी। भारतीय सिनेमा – सिनेमा के क्षेत्र में एक शताब्दी से अधिक का समय पूरा कर चुका है। सम्पूर्ण रूप से भारतीय सिनेमा विश्व सिनेमा के समातर ही चल रहा है किन्तु सम्पूर्ण रूप स्वदेशी फिल्म बनाने का श्रेय दादा साहब फाल्के (धुण्डीराज गोविन्द) को दिया जाता है। दादा साहब फाल्के ने 1913 में 'राजा हरिश्चन्द्र' फिल्म का निर्माण किया था। उल्लेखनीय है कि यह फिल्म मूक फिल्म थी।प्रथम स्वदेशी फिल्म देने के साथ–साथ दादा साहब फाल्के ने भारतीय सिनेमा की नींव भी रखी थी। उनके इस योगदान का भारतीय सिनेमा सदैव ऋणी रहेगा। दादा साहब भारतीय भाषाओं एवं संस्कृत भाषा के जानकार थे । उन्होंने संस्कृत ग्रंथों एवं महाकाव्यों के आधार पर ही पहली फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' का निर्माण किया था। इसके बाद ही भारतीय सिनेमा ने प्रगति का मार्ग पकड़ा और आज तक प्रगति पर है। भारतीय सिनेमा का विकास चरणबद्ध रूप में हुआ। आरम्भ में फिल्में मूक होती थी उनमे केवल विडियो या चलचित्र थे किन्तु आवाज नहीं होती थी। आवाज न होते हुए भी मूक फिल्मों का निर्माण बहुतायत में हुआ था तथा ये फिल्मे सफल भी होती थी। आधुनिक युग में

EXP-001/EXP-006

शायद ही कोई मूक फिल्म चल पाये किन्तु सिनेमा के आरम्भिक समय में मूक फिल्मों का अपना प्रभाव था।

विभिन्न भारतीय भाषाओं में निर्मित प्रथम फिल्म निम्नलिखित है

1. हिंदी राजा हरिश्चंद्र (1913) दादासाहब फालके द्वारा निर्मित भारतीय सिनेमा जगत की पहली फिल्म साबित हो गई जिसे मुंबई में बताया गया। मुंबई के पिल्म इंडस्ट्री के लिए आगे चलकर बश्लिवुइ नाम दिया गया।

2. मराठी मुंडलिक (1912) 18 मई, 1912 को निर्माता आर. जी. तोरणे एवं एन. जी. चित्रे की धार्मिक पृष्ठभूमि वाली सामाजिक फिल्म 'पुंडलिक मराठी की पहली फिल्म सानी गई। जिसे मुंबई में बनाया गया। पहली भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के पहले इसे बनाया गया था परंतु इसके विषय का परिदृश्य भारतीय न होने के कारण वह देखल मराठी की पहली फिल्म बनकर रह गई। मुबई इसका केंद्र है और यह बश्लीवुड के साथ बुढ़कर ही कार्य करता है।

3. तमिल किछका वध (1918) तमिल भाषा की पहली फिल्म बनी। चेन्नई (मद्रास) इसका केंद्र है और इसे कश्लीवुड के नाम से पहचाना जाता है।

4. बांग्ला 'विलबार्मनल' (1918) बांग्ला भाषा की पहली फिल्म बनी। कलकता इसका वैद है और इसे टश्लीवुड के नाम से महचाना आता है।

5. मलयालम विनयक मारण (1920) मलयालम भाषा की पहली फिल्म बनी। तिरुअनंतपुरम इसका केंद्र है और इसे मश्लीवुड के नाम से पहचाना जाता है।

6. तेलुगू भीष्म प्रतिज्ञा (1921) तेलुगू भाषा की पहली फिल्म बनी। हैदराबाद इसका केंद्र है और इसे टश्लीवुड के नाम से पहचाना जाता है।

7. गुजराती नरसिंह मेहता (1932) गुजराती भाषा की पहली फिल्म बनी। गांधीनगर और बढ़ौदा इसके केंद्र हैं और यह बश्लीवुड से जुनकर ही काम करता है।

8. कन्नड़सती सुलोचना (1934) कन्जह भाषा की पहली फिल्म बनी। बंगलुरु इसका केंद्र है और इसे संदलवुड के नाम से पहचाना जाता है।

9. असमिया ज्यामती (1935) असमीया आशा की पहली फिल्म बनी। गुवाहटी इसका केंद्र है।

10. उड़िया सीता विवाह (1936) उडिया 'वशा की पहली फिल्म कती। भुक्तेश्वर इसका केंद्र है और इसे वश्लीवुड के नाम से पहचाना जाता है।

EXP-001/EXP-006

11. पंजाबी 'शीला' (1936) पंजाबी आशा की पहली फिल्म बनी। पहली फिल्म का निर्माण स्वतंत्रतापूर्व लाहौर में हुआ था, अब यह शहर माकिस्तान में है। अब चंडीगढ़इसका केंद्र है।

12. कोंकणी 'मगाची अनवदों' (1950) कोंकणी भाषा की पहली फिल्म बनी। गोवा की राजधानी पणजी इसका केंद्र है।

13. भोजपुरी 'हे गंगा मैया तोहे पियरी चढाइयों' (1963) भोजपुरी भाषा की पहली फिल्म बनी। इस भाषा की फिल्मों का क्षेत्र बिहार, उत्तर प्रदेश, नेपाल और उत्तरी भारत है। पटना इसका केंद्र है और इसे पश्लीवुड के नाम से पहचाना जाता है।

14. तुलु एल्ला यंगड़ी (1971) तुलु भाषा की पहली फिल्स बनी। चेन्नई इसका केंद्र है।

15. बडगा 'काल्य थपिटा पथीलु' (1979) बडगा भाषा की पहली फिल्म बनी। उदगमंदलम् (तमिलनाडु) इसका केंद्र है।

16. 'कोसली भूखा' (1989) कोसली भाषा की पहली फिल्म बनी। संबलपुर (उड़ीसा)इसका केन्द्र है।

भारतीय सिनेमा के विकास के चरण निम्नलिखित हैं

1. मूक फिल्मों का युग : 1913 से 1931
2. स्वतंत्रता पूर्व वाक फिल्मों का युग : 1931 से 1947
3. स्वतंत्रता के बाद वाक फिल्मों का युग : 1947 से आज तक

12.3.1 मूक फिल्मों का युग

मूक फिल्मों के निर्माण का दौर 1913 से आरंभ हुआ जो1931 तक अपने उत्कर्ष पर था। इसके बाद सिनेमा में वाक फिल्मों का उदय हुआ । जो प्रतिवर्ष नये प्रतिमान बना रहा है। भारतीय सिनेमा में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनाई गयी थी इसके पहले लगभग 1300 मूक फिल्मों का निर्माण किया गया था। भारतीय संस्कृति को आधार बनाकर बनाई गयी पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' के, कुछ ही महीने वर्ष बाद रंगास्वामी नटराज मुदलियार ने 1916 में तमिल भाषा की पहली मूक फिल्म 'कीचक वधम्' का निर्माण किया। मूक फिल्मों की लोकप्रियता का पता इस बात से भी लगाया जा सकता है जहाँ 1913 में कुल तीन मूक फिल्मों का निर्माण हुआ था वहीं 1934 में कुल 1300 फिल्में निर्मित हो गयी थी। वाक फिल्मों के आगमन के बाद मूक फिल्मों का निर्माण केवल दो तीन वर्षों तक ही हुआ इसके बाद मूक फिल्मों का निर्माण नगण्य हो

EXP-001/EXP-006

गया। हिन्दी सिनेमा में 'राजा हरिश्चन्द्र' एवं 'कीचक वधम' के बाद 1917 में 'जमशेद फ्रामजी मदन' ने 'सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र' फिल्म का निर्माण किया। यह फिल्म राजा हरिश्चन्द्र की रीमेक फिल्म थी। इसके साथ ही जमशेद मदन में ही पहली भारतीय थियेटर श्रृंखला 'मदन थिएटर' की सीापना की। इसके बाद बंगाल के कई साहित्यिक कार्यों को थियेटर के माध्यम से जनता के मध्य रखा जाने लगा। भारत में सिनेमा भी भाषा और क्षेत्र के अनुसार 'अनेकता में एकता' का विचार प्रस्तुत करती है। हिन्दी सिनेमा के साथ ही तमिल सिनेमा, बंगाली सिनेमा और मराठी सिनेमा का भी विकास हुआ। मूक फिल्मों की कथा वस्तु सामान्यतः पौराणिक कथाओं का आधार पर होती थी। आरंभ में पौराणिक कथाओं पर विशेष बल देकर उन्हें ही फिल्म के माध्यम से नाटक के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। बाद में सामाजिक विषयों पर भी बल दिया जाने लगा और सामाजिक विषयों को आधार बनाकर फिल्म बनाये जाने लगे।

12.3.2 स्वतंत्रता से पहले वाक फिल्मों का युग

सिनेमा के क्षेत्र में टश्कीज के आने से सिनेमा में कान्तिकारी परिवर्तन आया। भारतीय सिनेमा में पहनी, बोलने वाली फिल्म 'आलम आरा' थी जिसे आर्देशिर इरानी ने 1931 प्रदर्शित किया। इसी के साथ रेड्डी ने 1931 में ही दक्षिण भारत की पहली बोलती फिल्म 'कालीदास' तमिल भाषा में निर्देशित कर लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया था। 1931 में बोलती फिल्मों की संख्या 28 थी जो 1947 में 280 हो गई । इनका निर्माण पंद्रह अलग भाषाओं में होने लगा था।

सिनेमा में आवाज का समांकन होने के बाद सिनेमा में सामाजिक विषयों को अत्यधिक सीान दिया जाने लगा था। बोलती फिल्मों में प्रेम–कहानियों का सर्वाधिक समावेश किया गया। पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' एक प्रेम कहानी पर ही आधारित फिल्म थी। 'आलम आरा' फिल्म के साथ ही फिल्मों में गीत–संगीत का समावेश हुआ। पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' में ही छः गाने थे। इसी के साथ संगीत फिल्मों का आवश्यक अंग बन गये।

भारतीय सिनेमा स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व प्रगति पथ थी किन्तु भारत में अंग्रेजों का शासन होने के कारण तत्कालीन समय की मूलभूत समस्याओं को सिनेमा में सीान नही दिया जा सका। स्वतंत्रता से पूर्व सिनेमा मुख्य राजनीति से तटस्थ ही रही। अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों की सिनेमा में बिल्कुल भी सीान नहीं दिया गया जिससे विदेशी प्रशासन भी भारतीय सिनेमा से तटस्थ ही रही और भारतीय सिनेमा के प्रगति में कोई विशेष बाधा नहीं आयी। स्वतंत्रता पूर्व जिस भी सामाजिक सामाजिक विषय को सिनेमा में सीान दिया गया उत्समे सीानीय प्रशासन जैसे मुखिया, सेठ, जमींदार इस प्रकार से ऊँचे

EXP-001/EXP-006

पदों पर, एवं ऊँचे घराने के लोगों की निंदा की गयी।

सिनेमा में संवाद होने के बाद भी उस दौर में फिल्म ब्लैक एन्ड व्हाइट होती थी। भारत की पहली रंगीन फिल्म सैरान्ध्रि थी जिसकी प्रोसेसिंग जर्मनी में कराई गयी थी। यह फिल्म प्रभाव फिल्म पुणे द्वारा निर्मित की गयी थी। स्वतंत्रता पूर्व भारत में फिल्मे अपने निर्माण कम्पनियों के नाम से प्रसिद्धि पाती थीं। 1933 में पहली रंगीन फिल्म आने के बाद भी ब्लैक एण्ड व्हाईट फिल्मों का निर्माण जारी रहा क्योंकि रंगीन फिल्मों का निर्माण मंहगा था तथा 1970 तक भारतीय सिनेमा पूर्ण रूपेण रंगीन फिल्मों का निर्माण करने लगी। भारतीय सिनेमा शुरू से ही यथार्थवादी और नाटकीय विषयों को अपने में समाहित करती रही है। यथार्थवादी होने के कारण फिल्में समाज सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। 1936 में भारतीय सिनेमा में स्वतंत्रता की लड़ाई को समाहित किया गया । 1936 में निर्मित फिल्म 'अछूत कन्या' ने समाज को दिशा–निर्देश देने का कार्य किया। इसी समय में वामपंथी आंदोलन का उदय हुआ निसका प्रभाव फिल्मों पर भी हुआ तथा उसी समय आन्दोलन से सम्बन्धित विषयों पर फिल्मों का निर्माण आरम्भ हुआ जिसमे इस दृष्टि से दुनिया ना माझे (1937 हिन्दी) तथा पुकार (1939 हिन्दी), रोटरी (1992) आदि उल्लेखनीय हिन्दी फिल्मों के साथ–साथ तमिल एवं मराठी भाषा की फिल्में त्यागभूमि (1939, तमिल) तथा रामशास्त्री (1944, मराठी/हिन्दी जैसी और कई फिल्मों का निर्माण किया गया जिसने जनमानस में स्वतंत्रता संग्राम की भावना को भर दिया। वी शांताराम, नितिन बोस, पी सी बरुआ, धीरने गांगुली, हिमांशु राय, सोहराब मोदी, चेतन आनंद , महबूब खान, के सुब्रह्मण्यम, वी डामले, एस फत्तोलाल, अब्बारा आदि इस दौर के उल्लेखनीय फिल्मकार थे।

12.3.3 स्वतंत्रता के बाद वाक फिल्मों का युग

1947 से आजतक फिल्मों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन एवं व्यापार है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय सिनेमा में भी बदलाव आया। आजादी के बाद भारतीय सिनेमा भी स्वतंत्रता से ओत–प्रोत विषयों को धारण करने लगा तथा फिल्मों में राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों को अधिक सीन दिया जाने लगा। उस समय तकनीकि रूप से भी सिनेमा का विकास हुआ साथ ही साथ आजादी बाद के फिल्मकार पहले की अपेक्षा अधिक परिपक्व हो चुके थे। स्वतंत्रता के बाद भारतीय सिनेमा को विश्व पटल पर छायांकित या प्रदर्शित किया जाने लगा था। स्वतंत्रता के बाद भारतीय फिल्मकारों का उत्साहवर्धन भी हुआ तथा भारतीय सिनेमा में देश प्रेम, स्वतंत्रता संग्राम तथा अंग्रेजों के कृत्यों को भी नाटकीय रूप से फिल्माया जाने लगा। तत्कालीन समय के फिल्मकारों में सत्यजीत राय, राजकपूर. विमल राय, ऋषिकेश मुखर्जी, अन्त माने, दिनकर पाटिल, वी

EXP-001/EXP-006

नागा रेड्डी आदि प्रमुख थे।

स्वतंत्रता के बाद 1947 में ही किशोर साहू द्वारा निदर्शित फिल्म 'सिन्दूर' का निर्माण किया गया जिसमे एक विधवा स्त्री को केन्द्र बनाया गया और उसके जीवन की तमाम कठिनाइयों को फिल्म के माध्यम से प्रदर्शित किया गया। इसी फिल्म के साथ समाज में विधवा पुनर्विवाह पर जोर दिया गया ।

भारतीय सिनेमा में गीत–संगीत के साथ–साथ प्रेम कहानी भी फिल्म का अभिन्न अंग होती चली गयी और आजतक प्रेम कहानी फिल्म के केन्द्र में होती है। शायद ही ऐसी किसी फिल्म का निर्माण किया जा रहा हो जिनमें प्रेम कहानी विद्यमान न हो। कुछ फिल्में तो ऐसी हैं जिनमें प्रेम कहानी को ही सामाजिक मुद्दा बना दिया गया है और नायिका तक नायक की पहुंच तथा अन्त में नायक एवं नायिका मिलन पूरी फिल्म का उद्देश्य हो गया।

भारतीय सिनेमा के महान फिल्मकार सत्यजीत रश्य बिमल राय, ऋत्विक घटक, गुरुदत्त, ऋषिकेश मुखर्जी, राजा परांजपे, एल. वी. प्रसाद, के. बालचंदर, राजकपूर, राजेन्द्र सिंह बेदी, मृणाल सेन, दत्ता धर्माधिकारी, अनंत माने, दिनकर पाटिल, बी. नागा रेड्डी, सी.वी श्रीधर ने विश्व को भारतीय सिनेमा से परिचित कराया। पांचाली (1954), अपराजिती (1957), तथा अपूर संसार (1959), ये ऐसी फिल्में थीं जो विश्व पटल के सामने रखी गयी थीं एवं भारतीय सिनेमा से विश्व को अवगत कराया था। इसी के साथ सिनेमा में नये–नये प्रयोगों का उदय हुआ जिसमें खलनायक पवनाधिका, कश्मेडियन, अभिनेता अभिनेती का प्रेम कैबरे डोससर्स आदि को सिनेमा या फिल्म का विषय बनाया गया। इस दौर की फिल्में मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक संदेश भी देती रही हैं। साथ ही भारतीय सिनेमा वर्ष प्रतिवर्ष प्रगति करता रहा और फिल्मों के कथानक भी विकसित होते रहें।

आधुनिक युग में सिनेमा की बात की जाए तो सिनेमा अब मिश्रित रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। फिल्में अब सामाजिक विषयों की बजाय काल्पनिक कथानक पर बनायी जाने लगी हैं जिनका वास्तविकता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक युग में मध्यकालीन भारत के सामाजिक विषयों एवं कथानकों पर फिल्म का निर्माण जोरों पर है इसके साथ ही बायोपिक फिल्मों का प्रचलन भी अने बढ़रहा है। इसी के साथ सिनेमा में अब राजनीतिक विषयों को भी बहुत तेजी से समाहित किया जा रहा है। सिनेमा के प्रारम्भिक समय में हिंसा का उतना अधिक प्रवेश नही था जितना अब हो रहा है तथा हिंसा और अंतरंगता सिनेमा का अंग बनते चले जा रहे हैं जो कभी–कभी फिल्म को फूहड़भी बना देते हैं।

EXP-001/EXP-006

12.4 उद्योग के रूप में भारतीय सिनेमा

सिनेमा में लेखन, सामाजिक संदेश को ध्यान में रखकर अवश्य होता है है किन्तु किसी भी फिल्म के निर्माण के पीछे व्यवसायिक उद्देश्य अवश्य होता है। फिल्म के निर्माता–निर्देशक की मनसा अवश्य रहती है कि फिल्म अपनी लागत से अधिक का व्यवसाय कर लेगी।

भारतीय सिनेमा उद्योग के रूप में एक अनपेक्षित रूप से विकसित हुआ। भारतीय सिनेमा अपने उदय से लेकर अब तक प्रगति पर है। भारतीय फिल्म उद्योग हश्लीवुड एवं चीनी सिनेमा के ही समकक्ष है। फिला उद्योग की सफलता अंदाजा इसी से लगाया जा सका है एक नायक की भूमिका निभाने के लिए अभिनेता करोड़ों रुपय चार्ज करते हैं। उद्योग के रूप में भारतीय सिनेमा की सफलता भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' से ही शुरू हो गयी थी जिसकी एक ही प्रति बनाई गयी थी फिर भी इस फिल्म ने व्यवसायिक सफलता प्राप्त किया। इस फिल्म की व्यवसायिक सफलता ने भारतीय फिल्मकारों को फिल्म उद्योग में कार्य करने को प्रोत्साहित किया। भारत में फिल्म उद्योग के विस्तार का कारण सस्ता एवं सीधा मनोरंजन के साधन के कारण हुआ। भारत में लगभग सात हजार (7000) सिनेमाघर हैं जिनमें सर्वाधिक सिनेमा घर आन्ध्र प्रदेश में हैं। सिनेमा उद्योग में व्यय होने वाले राशियों में प्रतिवर्ष वृद्धि देखी जा रही है। भारतीय सिनेमा उद्योग की कुल कमाई लगभग 11000 करोड़ रुपये से अधिक है तथा यह प्रतिवर्श वृद्धि हो रही है।

इक्कीसवीं सदी के आरम्भ का दशक भारतीय सिनेमा उद्योग के लिए नवीन कीर्तिमान गढ़े। आमिर खान की फिल्म गजनी ने सौ करोड़की कमाई का आंकड़ा पार किया। उसके बाद फिल्में हजार करोड़का आंकड़ा भी पार करने लगी।

फ़िल्म उद्योग में कार्य करने वालों की कुल संख्या को लाखों में है तथा एक संस्थागत क्रम फिल्म के निर्माण से उसके प्रदर्शन तक कार्य करती है। एक सामान्य फिल्म के निर्माण में भी करोड़ों का व्यय आता है। विद्वानों का अनुमान है कि प्रतिवर्ष 3 अरब से अधिक की पूंजी फिल्म निर्माण में जाती है। फिल्म प्रदर्शन होने पर एक भाग सरकार को टैक्स के रूप में जाता है जो कि भारतीय सरकार के राजस्व प्राप्ति का एक बड़ा माध्यम है। भारतीय सिनेमा वैश्विक पर्दे पर भी प्रदर्शित होती हैं। वैश्विक पर्दे पर भारतीय सिनेमा का प्रदर्शन सिनेमा तथा सरकार को विशेष लाभ कराता है।

उल्लेखनीय है कि भारत में प्रतिवर्श सभी भाषाओं में लगभग हजार फिल्म निर्मित

EXP-001/EXP-006

होती हैं परन्तु सभी फिल्म लाभ नहीं पाती। हाल में दबंग, दंगल आदि चर्चित एवं सफल फिल्म रही।

12.5 भारतीय सिनेमा : यथार्थ या फंटसी

आरंभिक दौर में सिनेमा यथार्थवादी उद्देश्यों एवं संदेशों के साथ जनमानस के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी 1975 के बाद सिनेमा में यथार्थवाद विशेष रूप से प्रविश्ट हुआ जो की 1990 तक उत्कर्श की ओर बढ़रही थी। ललित सुधाकर लिखते हैं कि ''नब्बे के दशक तक अर्थपूर्ण एव यथार्थवादी सिनेमा काफी सशक्त हुआ था और इसने भी देश को काफी अच्छे अदाकार, निर्देशक दिए। नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, अमरीशपुरी, कनमूशण खरबंदा, मोहन आगाशे, अमोल पालेकर आदि कई अभिनेता इसी धारा से प्रकाश में आए। फिल्मों में श्री 'अमन शोम' मृगया, एक अधूरी कहानी, फणिअम्मा, घट बादध, 'पार', 'अयांत्रिक', 'सुवणे रेखा', 'पाटी', 'प्रतिवद्वी', 'पोस्टर', 'शंकराभरण', 'ये की मंजिल तो नहीं', 'निशांत', 'संस्कार', 'वंशवृक्ष', 'चक्र', 'नागरिक', 'इंटरव्यू', 'औरत', 'उसकी रोटी', 'चश्मे कद्दर', 'कथा', 'दामूल', 'जाने भी दो यारों' आदि की एक लंबी सूची है, जिसने आरतीय सिनेमा में सोच और रचनात्मकता को एक सार्थक उंचाई और अर्थवता प्रदान की।'' किन्तु धीरे–धीरे सिनेमा में फेंटसी का प्रवेश हुआ और आधुनिक युग में फेंटसी का प्रभुत्व बढ़ता ही जा रहा है। यह सच है कि फिल्में मनोरंजन का साध140ँजन होती हैं किन्तु फिल्में समाज में पथ–प्रदर्शक का कार्य भी करती हैं। जिस यथार्थता के साथ सामाजिक विशयों एवं समस्याओं पर फिल्मों का निर्माण किया जाता 140 ँजन मानस अपेक्षा करता है कि उसी यथार्थता के साथ समस्याओं का समाधान भी किया जाए। किन्तु समस्या के समाधान के समय फिल्मों में फेंटसी का प्रवेश हो जाता है और नायक अचानक से शक्तिशाली हो जाता है। फेंटसी के अत्यधिक प्रयोग के कारण ही लोग भी फिल्मों को केवल मनोरंजन का साधन मानने लगे हैं।

फेंटसी का अर्थ ही है– कल्पना या कल्पना का संसार। ज्यादातर फिल्में कल्पनात्मक कहानियों पर ही निर्मित कि जाती है किन्तु इन फिल्मों की कहानियों का यथार्थ से ऐसा सम्बन्ध होता है जो वास्तव में सम्भव हो सकता है। उसी सीन पर फिल्मों में कल्पना के उस चरण को रखना जो वास्तव में सम्भव ही ना हो सकें ये सब फेंटसी है। फिल्मों में संगीत का होना भी एक फेंटसी ही है किन्तु संगीत छोटे स्तर की फेंटसी है जो दर्शकों को बांधे रख सकती है।

फिल्मी दुनिया में फेंटसी निश्चित ही दर्शकों को आकर्शित करती है लेकिन आवश्यकता से अधिक फेंटसी फिल्मों के कथानक को स्पश्ट नही कर पाती और लोग

EXP-001/EXP-006

बहुत जल्द ही फिल्म को भूल जाते है। फेंटसी के अधिक प्रयोग से फिल्में केवल मनोरंजन का साधन भाव रह जाती हैं।

आधुनिक युग में फिल्मों में फेंटसी का भरपूर प्रयोग किया जा रहा है। फेंटसी के अन्तर्गत हिंसा और कल्पनीय दृ'यों को समाहित किया जाने लगा है जिससे फिल्में आय का सृजन तो कर रही हैं लेकिन यथार्थ से तटस्थ होती चली जा रही है। फिल्मों में कथानक का स्पशट न होना फिल्म को रसहीन बना देता है तथा बाद के समय में उबाऊ भी लगने लगता है। फिल्मकार फिल्मों में उसी विशय की समाहित करते हैं जिससे जनता आकर्शित हो और फेंटसी आकर्शण का प्रमुख विशय है। फिल्मों में फेंटसी के नाम पर अंतरंगता एवं नग्नता को भी भरा जाने लगा है जो फिल्म को फूहड़भी बनाते हैं। जब तक जनता फेंटसी को पसंद करेगी उन्हे फेंटसी परोसा जायेगा। फिल्मकारों से अधिक जनता को फेंटसी से बाहर आने की जरूरत है तभी फिल्में अपने यथार्थ स्वरूप में जनता के सामने आ पायेंगी अन्यथा कैंटसी के नाम पर उड़ता हुआ सुपरमैन देखते रहिए।

12.6 सारांश

भारतीय सिनेमा प्रतिवर्श लगभग हजारों फिल्मों का प्रदर्शन कर रहा है। हाल के दिनों में वेब सीरीज का नया चलन शुरू हुआ है जो कि फिल्मों का ही एक रूप है परन्तु यह सिनेमा घरों में प्रदर्शित नहीं होता है। मूक फिल्मों से आरम्भ भारतीय सिनेमा हमारी यथार्थ और फेंटेसी को समेटे हुए अपनी विकास यात्रा कर रहा है। जिसमें भारतीय संस्कृति के विविध पक्ष भी दृश्टिगोचर होते हैं। भारतीय सिनेमा ने न मात्र महान फिल्मकार अभिनेता एवं अभिनेत्री दिए हैं बल्कि महान नर्तक, नृत्यांगना, गीतकार एवं गायकों भी दिया है।

12.7 बोध प्रश्न

1. भारतीय सिनेमा के विकास पर टिप्पणी कीजिए।
2. विभिन्न भारतीय भाषाओं ने भारतीय सिनेमा को किस प्रसार प्रभावित किया, टिप्पणी कीजिए।
3. क्या फिल्मों में फेंटसी ने यथार्थता को प्रभावित किया, निबंध लिखिए।

12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. फिल्मदोत्रे, रंगक्षे अमृतलाल नागर (सं.ड. शरद नागर), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

EXP-001/EXP-006

2003 |

2. फिल्मों का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा (सं0) कमला प्रसाद, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2010 |
3. बश्लीवुड पाठ विमर्श के संदर्भ ललित जोशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 |
4. सारिका (मासिक पत्रिका) अंक 375, नई दिल्ली, फरवरी 1985 |
5. सिनेमा कल, आज, कल विनोद आरद्वाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006 |
6. सिनेमा की सोच अजय ब्रहमात्मज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, आवृति, 2013 |
7. सिनेना के चार अध्याय. टी. शशिधरन वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014 |

इकाई 13–प्रमुख स्थापत्य शलियाँ, हड़प्पा सभ्यता, क्षेत्रीय स्थापत्य शलियाँ प्राचीन काल स्तूप, मंदिर स्थापत्य, गुफा,

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 हड़प्पा सभ्यता

13.4 प्राचीन कालीन क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियाँ

13.4.1 स्थापत्य में स्तूपों का प्रारम्भ

13.4.2 प्राचीन मन्दिर स्थापत्य

13.4.2.1 वास्तुकला की नागर शैली

13.4.2.2 मन्दिर वास्तुकला की द्रविड़ शैली

13.4.2.3 मन्दिर वास्तुकला की बेसर शैली

13.5 गुफा स्थापत्य कला

13.6 सारांश

13.7 बोध प्रश्न

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.1 प्रस्तावना

स्थापत्य का अर्थ है किसी दीर्घकालीन समयान्तराल में मनुश्यों द्वारा निर्मित भवन, मंदिर या कोई आवासीयं संरचना, जो लम्बे समय तक टिकाऊ हो। किसी भी स्थापत्य की एक संरचना होती है वह वास्तु संरचना कही जाती है। वास्तु संरचना के अंन्तर्गत किसी भवन या मंदिर की नींव से लेकर शीर्शपर्यंत बनाई गयी संरचना, नगर नियोजन की विधिवत संरचना एवं भवनों के निर्माण की दिशा आदि का अध्ययन सम्मिलित होता है। प्राचीन भारतीय स्थापत्य भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता का जीवंत उदाहरण है जिसका आरम्भ हमें सैंधव सभ्यता से दृश्टिगोचर होता है।

स्थापत्य कला मानव समाज के चरणबद्ध विकास का प्रमाण है। जैसे जैसे मानव

EXP-001/EXP-006

का विकास हुआ वैसे–वैसे निर्माण कला अभियांत्रिकी कौशल तथा ज्ञान भी बढ़ता चला गया जिससे स्थापत्य शैली और भी परिश्कृत हुयी और अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त होती चली गयी। निर्माण कला में स्थापत्य के बढ़ते ज्ञान के कारण ही कला के भी विविध स्वरूपों का भी विस्तार हुआ जिससे आवासीय भवन एवं नगर नियोजन के साथ मंदिरों एवं गुफाओं का निर्माण किया गया जो स्थापत्य के विभिन्न स्वरूपों का सूचक है।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- स्थापत्य निर्माण की विविध शैलियों के विषय में।
- स्तूप, गुफा एवं मन्दिर स्थापत्य की विभिन्न शैलियों के विषय में।

13.3 हड़प्पा सभ्यता

विश्व की आरंभिक चार सभ्यताओं में हड़प्पा सभ्यता प्रमुख है। हड़प्पा सभ्यता भारतीय–उपमहाद्वीप के उत्तर–पश्चिमी भाग में विकसित हुयी थी जिसका प्रसार क्षेत्र मध्य भारत तक था। सैंधव पुरास्थलों का विस्तार एवं यहाँ से प्राप्त पुरासामग्री एक विस्तृत नगरीय सभ्यता की सूचक थी। भारतीय उपमहाद्वीप में अद्यतन 2800 से अधिक हड़प्पा सभ्यता से संबंधित पुरास्थलों की पहचान की गयी है जो हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभिक चरण, विकसित चरण तथा परवर्ती चरणों से सम्बन्धित हैं। इस सभ्यता के दो प्रमुख पुरास्थल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो हैं। विद्वतजनों ने इस सभ्यता को हड़प्पा सभ्यता के नाम से संबोधित किया इसलिए यह हड़प्पा के नाम से ही ख्याति लब्ध हुई। भारतीय भूभाग में स्थित चन्हुदड़ो, लोथल, धौलावीरा, सुरकोटदा, कालीबंगा, राखीगढ़ी, बनावली आदि प्रमुख सैन्धव पुरास्थल है।

हड़प्पा संस्कृति कांस्य–युगीन संस्कृति थी जो अपने नगर नियोजन के लिए विख्यात है। हड़प्पा संस्कृति की नगर प्रणाली अत्यन्त विकसित थी। हालांकि हड़प्पा संस्कृति का अन्य सभ्यताओं से व्यापारिक सम्बन्ध था किन्तु स्थापत्य शैली पर किसी भी विदेशी सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं दिखता है। अतः कहा जा सकता है कि हड़प्पा संस्कृति का स्थापत्य स्वविकसित था जिसपर बाह्य प्रभाव नहीं था। हड़प्पा संस्कृति से संबंधित दो महत्वपूर्ण नगर विकास की अवस्था में शीर्ष पर थे–हड़प्पा और मोहनजोदड़ो। डॉक्टर रमेश चंद्र मजूमदार महोदय के अनुसार मोहनजोदड़ो के खंडहरों को देखकर प्राचीन नगरों के आयोजन की कारीगरी एवं सफाई प्रबंध से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता है।

EXP-001/EXP-006

सैन्धव नगर प्रायः दो भागों में वर्गीकृत हैं–दुर्ग क्षेत्र तथा आवासीय क्षेत्र 1 दुर्ग क्षेत्र। पश्चिम भाग में ऊँचाई पर स्थित होता था, जहाँ प्रशासनिक अधिकारी, सैन्य अधिकारी, पुरोहितों का निवास तथा कार्यालय होता था। यह क्षेत्र प्राचीर से घिरा हुआ था। पूर्व की ओर स्थित आवासीय क्षेत्र में सामान्य जन मानस, शिल्पकार तथा व्यापारिक वर्ग निवास करते थे।

सैन्धव नगरीय संरचना देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्नत एवं प्रशिक्षित तकनीशियन के अभाव में ऐसा नगर नियोजन सम्भव नहीं था। यहाँ की सड़कें चारों दिशाओं में फैली हुई थी तथा एक दूसरे को समकोण पर काटते हुए चौराहे जैसी संरचना प्रदान करती थी। विद्वतजनों ने इसे 'ऑक्सफोर्ड सर्कस' कहा है।

सैन्धव नगरों में भवनों का निर्माण भी अत्यन्त कुशलता एवं पूर्ण नियोजित तरीके से किया गया था। सैन्धव कारीगर भवन निर्माण में प्रायः 4:2:1 अनुपात की पकी आयताकार ईंट का प्रयोग करते थे। भवनों का निर्माण सड़क के दोनों ओर किया जाता था जिनमें आँगन, रसोईघर, अतिथिगृह, मकान एक तल या एक से अधिक तल के होते थे, जिनके लिए भवनों में सीढ़ियों का निर्माण किया जाता था। लोथल और अन्य सैन्धव पुरास्थलों के भवनों में आलमारी काटने की कला के प्रमाण है जिसमें आवश्यक सामग्रियाँ रखी जा सके। स्नानगृह में पकी ईंटों से फर्श बनाया जाता था।

सैन्धव नगरों से विशाल आवास के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो कि आकार में सामान्य भवनों से कहीं अधिक विशाल हैं। सम्भवतः यह सार्वजनिक भवन थे जिनका निर्माण दुर्ग क्षेत्र में हुआ है। मोहनजोदड़ों से 20 स्तम्भों वाला 80 x 80 फीट का विशाल भवनावशेष प्राप्त हुआ है। मोहनजोदड़ों से 230 x 78 फीट चौड़ा भवन प्राप्त हुआ है। विद्वानों के अनुसार यह किसी उच्चाधिकारी का भवन रहा होगा।

मोहनजोदड़ो पुरास्थल से ही एक विशाल स्नानागार की प्राप्ति हुई है। जिसका क्षेत्रफल 39' x 23' x 8' का है। स्नानागर में स्नान करने के लिए चबूतरा निर्मित है तथा चारों ओर बरामदे बने हुए हैं। स्नानागार में पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ निर्मित है जो 9 इंच ऊँची हैं।

अन्तिम सीढ़ी की ऊँचाई इन सीढ़ियों से अधिक 16 इंच तथा चौड़ाई 24 ईंच है। इसके दक्षिण पश्चिम भाग में 9.5 x 6 फीट के कमरे निर्मित है। महास्नानागार में छः द्वारों द्वारा पहुँचा जा सकता था। इसकी बाह्य भित्तियों पर गिरिपुष्पक का लगभग एक इंच मोटा प्लास्टर किया गया था। स्नानागार से जल निकास की भी उन्नत व्यवस्था की गयी थी।

EXP-001/EXP-006

सैन्धव पुरास्थल से एक विशाल अन्नागार प्राप्त हुआ है। यह एक विशाल क्षेत्र में विस्तृत तथा वर्गीकृत है। इसमें अनेक आवास तथा चबूतरे निर्मित है। चबूतरों का उपयोग अन्न को पीसने के लिए किया जाता रहा होगा। अन्नागार 30 x 20 फीट में विभक्त थे जो 23 फीट की सड़क के दोनों ओर 6–6 पंक्तियों में थे। भण्डारगृह का प्रमुख द्वार नदी की ओर खुलता था। सम्भवतः इसका कोई व्यापारिक कारण रहा होगा। मेसोपोटामिया से प्राप्त ऐसे भण्डारगृह इस सम्भावना को सबल करते हैं। यहीं से दो–दो कमरों के भवन भी प्राप्त होते हैं जो सम्भवतः कर्मिकों के लिए निर्मित किए गए होंगे।

सैन्धव स्थापत्य में सड़कों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इनके निर्माण में व्यापारिक पक्षों का भी ध्यान रखा गया था। यहाँ की सड़कों की चौड़ाई सामान्यतः 9 फीट से 33 फीट तक चौड़ी है। मोहनजोदड़ों से एक 9.15 मीटर चौड़ी सड़क प्राप्त होती है जिसे विद्वानों ने 'राजपथ' कहा है। सैन्धव नगरों की गलियाँ सड़कों से जुड़ती थी। जिनके निर्माण में कच्ची ईंटों का प्रयोग किया जाता था। इनके किनारे नालियाँ बनाई जाती थी, जो ईंट या पत्थर से ढके रहते थे। नालियों से कुछ दूर पर एक कुण्डनुमा गड्ढा बनाया जाता था जिसकी साफ–सफाई की जाती थी।

13.4 प्राचीन क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियाँ

प्राचीन काल की सर्वाधिक लोकप्रिय सभ्यता हड़प्पा की स्थापत्य शैली उल्लेखनीय है। किन्तु हड़प्पा काल में किसी भी मन्दिर अथवा देवस्थान के स्थापत्य का प्रमाण नहीं मिलता है। अपनी उन्नत स्थापत्य शैली के अनन्तर भी हड़प्पा सभ्यता का पतन होता चला गया तथा कालान्तर में विविध क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियों का उदय हुआ। प्राचीन काल में उदित स्थापत्य शैली अधिकांशतः पत्थरों पर या पत्थरों से निर्मित किये गये थे। प्रायः हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद लगभग हजार वर्षों तक किसी भी स्थापत्य कला का उदय नहीं हुआ था। 250 ई0 पू0 पुनः स्थापत्य शैली का विकास हुआ। 250 ई0पू0 उदित होन`वाली स्थापत्य शैली ज्यादातर स्मृति स्थल एवं प्रार्थना कक्ष अथवा मन्दिर के रूप में उभरे। इस काल खण्ड को स्थापत्य कला का पुनर्जागरण काल कहा जा सकता है। वास्तुशैली की स्थापना में सर्वप्रथम स्तूपों के निर्माण का उदय हुआ। इसके बाद गुफाओं का निर्माण किया गया। फिर मन्दिरों का निर्माण विविध वास्तुशैलियों में किया गया। प्रायः गुफाएँ प्रकृति प्रदत्त होती है किन्तु प्राचीन काल में मानव निर्मित गुफाओं का विकास तेजी से हुआ। मानव निर्मित गुफाएँ अपनी वास्तुशैली के ज्ञान का अद्वितीय उदाहरण है। कालान्तर में आगे चलकर इन गुफाओं का प्रयोग आध्यात्मिक आवास के रूप में होने लगा था। ई0पू0 250 में विकसित होने वाली वास्तुकला विदेशी शैलियों से प्रभावित होने लगी थी क्योंकि हड़प्पा काल में किसी भी मन्दिर का अवशेष नहीं मिला है

EXP-001/EXP-006

जबकि मेसोपोटामिया एवं मिस्र की सभ्यता में मन्दिर या प्रार्थना स्थ्थल के अलग से अवशेष प्राप्त हुए हैं तथा मृतकों के स्मृति में पिरामिड का निर्माण मिस्र की सभ्यता की अनूठी पहचान है। उसी प्रकार 250 ई0पू0 में उदित होने वाले स्थापत्य शैली में सर्वप्रथम स्तूपों का निर्माण प्रारम्भ किया गया था। इस काल में बनाये गये भवन या स्थापत्य शैली में उपयोगिता के साथ–साथ सौन्दर्य को भी महत्व प्रदान किया गया था। इस काल में स्थापत्य के लिए लकड़ी का प्रयोग किया जाने लगा था तथा बनाये गये भवन किसी न किसी के स्मारक के रूप में स्थापित किये जाते थे। व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित अवशेषों के लिए भी स्थापत्य किया जाने लगा था। इस युग की स्थापत्य शैली में अयात्मक पर या आस्था पर बल दिया गया था। अर्थात् आध्यात्मिक स्थापत्य शैली का प्रारम्भ इसी युग से हुआ जो आज तक जारी है।

13.4.1 स्थापत्य में स्तूपों का प्रारम्भ

स्तूप वैदिक काल से ही भारत में प्रचलित थे। सामान्यतः स्तूपों का निर्माण ऋषियों की समाधि स्थली के रूप में किया जाता था। स्तूपों का शाब्दिक अर्थ है मिट्टी का ढेर। स्तूप अन्त्येष्टि पुंज का प्रतीक होते हैं। स्तूपों का निर्माण प्राचीन काल में सामान्य तरीके से होता था जिसमें समाधिस्थ व्यक्ति या उसके अवशेषों को भूमि में दफना कर ऊपर से मिट्ी से गोलाकार आकृति में ढक दिया जाता था। मौर्य काल में स्तूपों का निर्माण जटिलता से किया जाने लगा जिससे स्तूप को चारों ओर से पत्थर से ढका जाने लगा और उन्हें स्थायी बनाया जाने लगा। मौर्य काल में स्तूपों का निर्माण अपने चरर्मोत्कर्ष पर था तथा सर्वाधिक स्तूपों का निर्माण अशोक के शासन काल में किया गया था।

बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात ही स्तूपों का निर्माण ठोस रूप में किया जाने लगा था। मौर्य शासक सम्राट अशोक के ही शासन काल में 84000 स्तूपों का निर्माण किया गया था। स्तूपों को सर्वाधिक रूप से बौद्धों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया। प्रारम्भ में स्तूपों का निर्माण सामान्य ढंग से ही किया जाता था, किन्तु आगे चलकर स्तूप एक महत्वपूर्ण स्थापत्य शैली के रूप में उभरा। स्तूप बौद्ध धर्म की आस्था के साथ गहनता से जुड़ा हुआ है। स्तूप चिता के स्थान पर बनाया जाता था। अतः इसे चैत्य भी कहा जाता है।

स्तूप की स्थापत्य शैली चरणबद्ध तरीके से विकसित हुयी है। स्तूप के भीतरी भाग या गर्भ में बुद्ध से सम्बन्धित अवशेष को रखकर यष्टि बनाकर उसके चारों ओर अर्द्ध वृत्ताकार आकृति में कच्ची ईंटों का आन्तरिक सतह बनाया जाता था। उसके पश्चात् चारों ओर बाहरी सतह को पकी ईंट या पत्थर से ढंका जाता था तथा ऊपर से प्लास्टर की परत चढ़ाई जाती थी तथा स्तूप के शीर्ष भाग पर छत्र बनाया जात था। प्रारम्भ में

EXP-001/EXP-006

एक ही छत बनाया जाता था। प्रारम्भ में एक ही छत्र बनाया जाता था, किन्तु बाद में तीन छत्र तथा सातवाहन काल में सात छत्रों का निर्माण किया जाता था। स्तूप की परिक्रमा के लिए चारों ओर वृत्ताकार प्रदक्षिणा पथ का निर्माण किया गया है। प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में तोरण द्वार बनाये गये हैं। प्रवेश द्वार को मेधि तथा तोरणों को काश्ठ के अनुकरण पर बनाया गया है। स्तूपों के चारों ओर निर्मित काष्ठ के अनुकरण पर पाषाण निर्मित वेदिका उल्लेखनीय है। वेदिका निर्माण के लिए स्तम्भों का प्रयोग किया गया है जिनका आधार भूमि पर पाषाण खण्ड में धँसा है तथा स्तम्भों के ऊपर भी पाषाण खण्ड रखा गया है। स्तम्भ का ऊपरी भाग भी पाषाण खण्ड में धँसा हुआ है।

स्तूप वास्तु शैली में वेदिका के चारों ओर तोरण का निर्माण किया गया हैं ये चारों तोरण द्वार दिग्पालों के प्रतीक के रूप में है। तोरण–द्वार विशिष्ट हैं। दो विशाल स्तम्भ प्रवेश द्वार के दोनों किनारों पर खड़े किये जाते थे तथा उनके ऊपर तीन समान्तर क्षैतिज स्तम्भ डाले जाते थे जिनका कुछ भाग बाहर हो। तोरण–द्वार को लकड़ी की मूर्तियों से सजाया जाता था।

स्तूप स्थापत्य की दृष्टि से अपनी काष्ठ निर्माण कौशल की विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। स्थापत्य की दृष्टि से स्तूप–निर्माण अत्यधिक जटिल नहीं है किन्तु सजावट की दृष्टि से इतना सरल भी नहीं है। स्तूप के बाहरी भाग में लकड़ी की अनुकृति छोटी–छोटी आकृतयाँ को बना कर उन्हें तोरण द्वार में जोड़ा गया है। स्तूप में लगे मूर्तियों से पता चलता है कि उस समय मूर्तिकला भी विकास की ओर अग्रसर हो रही थी। सम्राट अशोक द्वारा बनवाया गया। साँची स्तूप अत्यन्त विख्यात है। इसके बाद सारनाथ, पिपहरवा, भरहूत के स्तूपों की संरचना भी उल्लेखनीय है।

13.4.2 प्राचीन मन्दिर स्थापत्य शैली

भारतीय उपमहाद्वीप में मन्दिरों की वास्तुकला का उदय गुप्त काल में हुआ। हड़प्पा की अत्यन्त विकसित सभ्यता होने के बाद भी मन्दिरों के अवशेष नहीं पाये गये हैं। मन्दिरों के साक्ष्य मिस्र और मेसोपोटामिया सभ्यता में मिले है। भारत में विकसित होने वाले मन्दिर वास्तुकला का प्रसार विश्व के अन्य देशों तक हुआ। मन्दिर वास्तुकला पर विदेशियों की वास्तुकला का प्रभाव भी देखने को मिलता है। मन्दिर वास्तुकला का विकास क्रमिक रूप से पांच चरणों में हुआ जिससे आगे चलकर मन्दिरों की वास्तुकला की विभिन्न शैलियों का उदय हुआ।

गुप्त काल में मन्दिर का विकास हुआ तो प्रारम्भ में मन्दिर वर्गाकार एवं खम्भों से युक्त द्वार मण्डप होता था। प्रारम्भिक चरण में मन्दिर एक ही पत्थर को काटकर सपाट

EXP-001/EXP-006

छत वाले बनाये जाते थे। लेकिन आगे चलकर गढ़े हुए शिखरों वाले मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

प्रथम चरण में मन्दिर एक ही पत्थर को काटकर बनाये जाते थे, जिसकी छतें सपाट होती थी। मन्दिर को कम ऊँचाई पर निर्मित किया जाता था तथा मन्दिर का आकार वर्गाकार होता था तथा द्वार मण्डप उथले स्तम्भों पर निर्मित था।

द्वितीय चरण में मन्दिर की विशेषताएँ पूर्ववत् ही थीं किन्तु मंचों को और ऊँचा किया जाने लगा था तथा मन्दिरों को दो मंजिला बनाया जाने लगा। मन्दिर का गर्भ गृह ढँका हुआ होता था तथा चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाता था।

तृतीय चरण में मन्दिर की सपाट छतों के स्थान पर शिखरों का निर्माण किया जाने लगा। ये खिर कम ऊँचाई के तथा वक्ररेखीय थे। तृतीय चरण में मन्दिरों की पंचायतन वास्तुशैली का उदय हुआ।

मन्दिर बनाने की पंचायतन शैली में प्रमुख देवता के मन्दिर के साथ चार गौण देवताओं का भी मन्दिर बनाया जाता था। प्रमुख मन्दिर वर्गाकार होता था तथा इसके सामने लम्बा मण्डप बनाया जाता था जिससे मन्दिर का आकार आयताकार हो जाता था और गौण देवताओं के मन्दिरों को मण्डप के प्रत्येक ओर एक–दूसरे के सम्मुख स्थापित किया जाता था।

चौथे चरण में मन्दिर वास्तुकला तृतीय चरण के समान थी किन्तु मुख्य मन्दिर को वर्गाकार के स्थान पर आयताकार बनाया जाने लगा। मन्दिर निर्माण के पंचम चरण में मठों के निर्माण का आविर्भाव हुआ। मन्दिर की संरचना वृत्ताकार होती थी, किन्तु ऊपरी भाग उथले आयताकार आकृति में बाहर की ओर निकलता हुआ था।

मन्दिर वास्तुशैली का विकास गुप्त काल में ही हुआ था, किन्तु कालान्तर में मन्दिर वास्तुशैली की विविध शैलियों का विकास होने लगा। मन्दिर वास्तुशैली की 3 मुख्य शैलियाँ उल्लेखनीय है। इन तीन शैलियों के अन्तर्गत उप–शैलियों का भी उदय हुआ था–

1. नागर शैली
2. द्रविड़ शैली
3. वेसर शैली

EXP-001/EXP-006

13.4.2.1 वास्तुकला की नागर शैली

मन्दिर वास्तुकला की नागर शैली का विकास पांचवीं शताब्दी ई0 में उत्तरी भारत में हुआ। नागर शैली के अन्तर्गत देश के पश्चिम, पूर्व व मध्य भाग में उप–शैलियों का भी उदय हुआ। इस शैली में मन्दिर निर्माण की पंचायतन शैली का प्रयोग किया गया था। मुख्य मन्दिर वर्गाकार बनाया जाता था तथा सामने गौण देव मन्दिरों का निर्माण किया जाता था। मन्दिर का निर्माण आधार से लेकर सर्वोच्च भाग चतुष्कोणीय होता था। मन्दिर के गर्भ गृह के सामने सभाकक्ष या मण्डप निर्मित किया जाता था। गर्भ गृह के बाहर गंगा और यमुना की प्रतिमाओं को स्थापित किया जाता था। मन्दिरों को भूमि से ऊँचा मंच (या वेदी) पर निर्मित किया जाता था। मण्डप का निर्माण स्तम्भों से किया जाता था। नागर शैली में मन्दिरों के तीन प्रकार के शिखरों का निर्माण किया जाता था। पहला वर्गाकार आधार होते थे तथा शीर्ष बिन्दु की ओर दीवारें अन्दर की ओर वक्रीय होती थी। दूसरे प्रकार में आधार अधिक चौड़ा होता था तथा ऊँचाई अपेक्षाकृत कम होती थी तथा दीवारें सीधी रेखा में ढलाव निर्मित करते थे। तीसरे प्रकार में इनका आधार आयताकार होता था और छतें गुम्बदकार बनायी जाती थीं। मन्दिर के शिखर के शीर्ष पर एक गोलाकार आकृति निर्मित की जाती थी जिसे कलश कहा जाता है। प्रारम्भ में मन्दिर के भीतर दीवारों को तीन क्षैतिज भागों में विभाजित किया जाता था जिन्हें रथ कहा जाता था। ऐसे मन्दिर त्रिरथ कहे जाते थे। बाद में पंचरथ, सातरथ तथा नवरथ मन्दिर बनाये जाने लगे। मन्दिर के विभिन्न भागों में कथात्मक मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ होता था।

13.4.2.2 मन्दिर वास्तुकला की द्रविड़ शैली

मन्दिर की द्रविड़ शैली में चोल राजाओं का विशेष योगदान रहा। द्रविड़ शैली 9वीं से 12वीं शताब्दी ई0 के मध्य चोल साम्राज्य के समय दक्षिण भारत में विकसित हुयी। इस शैली के मन्दिरों का निर्माण कृष्णा व कावेरी नदियों के मध्य क्षेत्र में हुआ। दक्षिण भारत में निर्मित अधिकतर मन्दिर द्रविड़ शैली में ही बनाये गये हैं। द्रविड़ शैली में मन्दिर परिसर का निर्माण पंचायतन शैली में किया जाता था जिसमें एक प्रधान मन्दिर तथा चार गौण देव मन्दिर होते थे। द्रविड़ शैली की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि ये कई मंजिला बनाई गयी है। द्रविड़ शैली में मन्दिर का आधार भाग वर्गाकार बनाया गया है किन्तु गर्भगृह के ऊपर का शिखर भाग पिरामिड के आकार का लम्बवत और ऊँचा बनाया गया है। द्रविड़ मन्दिर के शिखर के ऊपरी हिस्से पर कलश के स्थान पर स्तूपिका बनाया गया है। इस शैली के मन्दिर अत्यन्त ऊँचे हो जाते हैं तथा उनका

EXP-001/EXP-006

प्रांगण भी बहुत बड़ा होता है जिनमें कई कक्ष, जलाशय एवं छोटे मन्दिर निर्मित होते है।

मन्दिर के सामने ऊँचा प्रवेश द्वार होता है जिसको गोपुरम् कहा जाता है। द्रविड़ शैली की प्रमुख विशेषता मन्दिर के प्रांगण में जलाशय का निर्माण है। जो नागर शैली के मन्दिरों में अनुपस्थित होते हैं। द्रविड़ वास्तुकला के अन्तर्गत केवल मुख्य मन्दिर के शीर्ष पर विमान होता था। सभा कक्ष गर्भ गृह से एक गलियारे द्वारा जुड़ा होता था जिसे अन्तराल कहा जाता है। गलियारों को स्तम्भों के प्रयोग से बनाया गया है। गर्भ गृह के प्रवेश द्वार पर द्वारपाल, मिथुन और यक्ष की मूर्तियाँ होती थीं। गर्भगृह की प्रदक्षिणा करने के लिए गर्भगृह के चारों ओर गोलाकार मार्ग बना होता है। सभाकक्ष के लिए प्रयोग किये गये स्तम्भों पर मूर्तियों की नक्काशी की गयी है। इन स्तम्भों पर सजावटी नक्काशी भी किया गया है। मन्दिर के बाहरी दीवारों पर शार्ष तक सजावटी नक्काशी एवं मूर्तियों की नक्काशी भी की गयी है।

द्रविड़ स्थापत्य शैली का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण कैलाशनाथ मन्दिर है, जो आठवीं शताब्दी में पल्लव वंश के राजाओं द्वारा निर्मित कराया गया था। कालान्तर में द्रविड़ शैली की अन्य उप–शैलियाँ भी विकसित हुयी जिसमें नायक शैली प्रमुख है। नायक शैली पर इस्लामिक प्रभाव दिखता है।

13.4.2.3 मन्दिर वास्तुकला की बेसर शैली

मन्दिर वास्तुशैली में बेसर शैली का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी ई0 में हुआ। बेसर शैली का उदय चालुक्य शासकों के शासनकाल में हुआ इस शैली को कर्नाटक शैली भी कहा जाता है। बेसर शैली में सर्वाधिक मन्दिरों का निर्माण कृष्णा नदी और विन्ध्य क्षेत्र के मध्य हुआ। बेसर शैली मुख्यतः द्रविड़ और नागर शैली का मिश्रण है। बेसर शैली में मन्दिर का शीर्ष भाग द्रविड़ शैली की तुलना में कम ऊँचा होता है। बौद्ध चैत्यों के अर्द्ध–वृत्ताकार निर्माण इसी शैली पर आधारित है। इस शैली में संरचनाओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। बेसर शैली की विशेषताएँ निम्न हैं–

इस शैली में विमान और मण्डप को अत्यधिक महत्व दिया गया है। बेसर शैली में खुले प्रदक्षिणा पथ का निर्माण किया गया है। इस शैली में खम्भों, दरवाजों और छत को बारीक नक्काशी से सजाया जाता था और अच्छी तरह पॉलिस किया जाता है। द्रविड़ शैली के आधार पर दीवारों पर जटिल नक्काशी की जाती थी तथा विमान संरचना एवं सीढ़ीदार शिखर द्रविड़ शैली का रूप है। बेसर मन्दिरों के वक्ररेखीय शिखर और वर्गाकार आधार नागर शैली के प्रभाव को दर्शाता है। बेसर शैली में निर्मित प्रमुख मन्दिर दम्बल का दोडुपसप्प मन्दिर है।

EXP-001/EXP-006

13.5 गुफा स्थापत्य कला

प्राचीन काल से ही मानव आवास के रूप में गुफाओं का प्रयोग करता था। प्राचीन काल में गुफाएँ प्राकृतिक थी किन्तु आगे चलकर मानव निर्मित गुफाओं का विस्तार हुआ। मानव निर्मित गुफाएँ एक उत्कृष्ट स्थापत्य शैली के रूप में उभरी।

गुफा वास्तुकला में एक ठोस प्राकृतिक चट्टान को भीतर से काटकर सुन्दर संरचना बनायी जाती है। भारत में गुफा वास्तुकला का प्रारम्भ प्राचीन काल में हुआ था। इन गुफाओं का उपयोग जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पुरास्थल एवं आवास के रूप में किया जाता था। भारत में गुफा वास्तुशैली का प्रारम्भ पश्चिमी भारत में भारतीय गुफा वास्तुकला विश्व की अन्य गुफाओं की तुलना अधिक उत्कृष्ट एवं समृद्ध है। भारत में 1500 से अधिक गुफाएँ विद्यमान हैं। सम्भवतः गुफा की स्थापत्य शैली का सर्वाधिक विकास मौर्य काल में हुआ। मौर्य कालीन राजाओं को गुफा स्थापत्य कला का श्रेय दिया जाता है। प्रारम्भिक गुफाएँ बौद्ध एवं जैन धर्म की प्रधानता को दर्शाती हैं तथा कालान्तर में इन गुफाओं में हिन्दू देवी–देवताओं की भी स्थापना की जाने लगी थी।

आदिकाल से ही प्राकृतिक गुफाओं का प्रयोग आवास के रूप में किया जाता था। प्राचीन समय में चट्टानों पर उकेरी गयी आकृतियाँ मानव की स्थापत्य शिल्प कौशल का प्रारम्भिक उदाहरण है। बौद्ध धर्म के उदय के बाद गुफाओं का प्रयोग बढ़ गया। बौद्ध वर्षावास के लिए गुफाओं का प्रयोग करते थे।

गुफा निर्माण की क्रिया अत्यन्त कठोर है इसीलिए इसका विकास धीरे–धीरे हुआ और समय के साथ ये वास्तुकला अत्यधिक उन्नत एवं समृद्ध हुयी। भातर में प्रारम्भिक गुफा पश्चिमी दक्कन क्षेत्र में बौद्ध मंदिर एवं मठ के रूप में है जो 100 ई0 से 170 ई0 के बीच बनाये गये हैं। इस भाग में गुफाएँ जैन तीर्थ स्थल के रूप में भी विद्यमान है। भारत में सर्वाधिक गुफाएँ महाराष्ट्र में स्थित हैं जिनमें भाजा गुफाएँ, बेडसा गुफाएँ, कार्ले गुफाएँ, कन्हेरी गुफाएँ, अजन्ता गुफाएँ तथा एलोरा की गुफाएँ प्रमुख हैं। इन गुफाओं को ई0पू0 पहली शताब्दी से 10वीं शताब्दी के बीच निर्मित किया गया था। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण 200 ई0पू0 से 650 ई0 के बीच किया गया है। भारत में गुफा स्थापत्य शैली के रूप में तीन प्रकार से विकसित हुयी।

1. बौद्ध गुफाएँ
2. हिन्दू गुफाएँ
3. जैन गुफाएँ

EXP-001/EXP-006

1.बौद्ध गुफाएँ

गुफा वास्तुकला के सर्वाधिक उदाहरण बौद्ध गुफाओं से सम्बन्धित है। भारत में लगभग 1200 गुफा मन्दिर बौद्ध हैं। सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण गुफाएँ अजन्ता की हैं। अजन्ता की गुफाएँ सहयाद्रि पर्वतमाला पर चट्टानों को काटकर निर्मित की गयी गुफाओं की श्रृंखला है। इसमें 29 गुफाओं का समूह है जिनमें 25 को विहारों या आवासीय गुफाओं के रूप में प्रयोग किया जाता था जबकि 4 गुफाओं का प्रयोग चैत्य या प्रार्थना स्थल के रूप में प्रयोग किया जाता था। अजन्ता की गुफाओं पर पूर्णतया बौद्ध धर्म का प्रभाव है। अजन्ता की गुफाओं में पेन्टिंग और पत्थर की मूर्तियाँ शामिल हैं। गुफा के आन्तरिक दीवारों पर भित्तिचित्रि चित्रित किये गये है। तथा इन चित्रों को स्थानीय पौधों और खनिजों के रंग से रंगा गया है। इन रंगों में नीले रंग की अनुपस्थिति है। अधिकतर चित्र बौद्धधर्म की है जिनमें बुद्ध का जीवन एवं जातक कथाएँ शामिल हैं। बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रारम्भिक गुफाओं को उपयोगितावाद के आधार पर आवासीय कक्षों के रूप में निर्मित किया गया था तथा बौद्ध धर्म के महायान काल के दौरान गुफाओं में बुद्ध को समर्पित करके उनके मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा।

2.हिन्दू गुफाएँ

भारत में हिन्दू गुफाएँ बौद्ध गुफा वास्तुकला का विस्तार है जिनमें हिन्दू परम्पराओं के अनुरूप वास्तुकला एवं आकृति को महत्व दिया जाने लगा। हिन्दू गुफा वास्तुकला का प्रारम्भ चौथी शताब्दी से हुआ तथा आठवीं शताब्दी तक विस्तृत हुआ। हिन्दू गुफाओं में रामायण और महाभारत से सम्बन्धित पौराणिक विषयों को आकृति प्रदान की गयी। स्थापत्य की दृष्टि से हिन्दू गुफाओं के लिए एलोरा की गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। हिन्दू गुफाओं में भित्तिचित्रों के स्थान पर हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा। हिन्दू गुफाओं का प्रतिनिधित्व उदयगिरि (विदिशा, मध्य प्रदेश) की गुफाएँ करती हैं। उदयगिरि की गुफाओं में सर्वाधिक हिन्दू मान्यताओं की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। उदयगिरि की गुफाओं में ही वाराह मूर्ति, शिवलिंग एवं लेटे हुए विष्णु की मूर्ति का निर्माण किया गया है।

3.जैन गुफाएँ

जैन गुफा वास्तुशैली का प्रारम्भ 6वीं शताब्दी ई0 से 12 शताब्दी ई0 तक माना जाता है। जैन गुफाओं में अलंकृत जैन मूर्तियाँ, जैन तीर्थंकरों को समर्पित की गयी है। कुछ जैन गुफाओं में विस्तृत चित्रित छतें भी पाई गयी हैं। महाराष्ट्र में एलोरा गुफाएँ जैन

EXP-001/EXP-006

गुफाओं के प्रमुख उदाहरण हैं। एलोरा में चार गुफाएँ जैन समुदाय से जुड़ी हुयी बनायी गयी हैं। प्रायः बौद्ध धर्म की गुफाओं पर जैन धर्म का प्रभुत्व हो गया था जब बौद्ध धर्म का पतन होने लगा था। जैन गुफाओं में जैन तीर्थंकरों की विभिन्न मुद्रा में मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। इसके अतिरिक्त उड़ीसा के खण्डगिरि की गुफाओं में चौबीस जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण किया गया है।

अन्ततः गुफा वास्तुकला में भारत में अत्यन्त समृद्ध है। साम्प्रदायिक गुफा वास्तुकला के अतिरिक्त भारत में गुफों में मूर्तिकला का अत्यधिक प्रसार हुआ है। गुफों के प्रवेश द्वार को अत्यधिक नक्काशी के साथ बनाया जाता था। अधिकतर गुफाओं के प्रवेश द्वार पर स्तम्भों को बनाया गया है। गुफाओं में बनायी गयी मूर्तियाँ एक ही चट्टान का भाग होती है। अतः भारत की गुफा वास्तुकला उत्कृष्ट शिल्प कौशल का प्रमाण है।

13.6 सारांश

स्थापत्य का अर्थ है किसी दीर्घकालीन समयान्तराल में मनुष्यों द्वारा निर्मित भवन मंदिर या कोई आवासीयं संरचना जो लम्बे समय तक टिकाऊ हो। किसी भी स्थापत्य की एक संरचना होती है वह वास्तु संरचना कही जाती है। वास्तु संरचना के अन्तर्गत किसी भवन या मंदिर की नींव से लेकर शीर्शपर्यंत बनाई गयी संरचना, नगर नियोजन की विधिवत संरचना एवं भवनों के निर्माण की दिशा आदि का अध्ययन सम्मिलित होता है। प्राचीन भारतीय स्थापत्य भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता का जीवंत उदाहरण है जिसका आरम्भ हमें सैंधव सभ्यता से दृष्टिगोचर होता है। कला की स्थापत्य शैली का विकास के विभिन्न स्वरूप दृष्टिगत होते है। विभिन्न प्रकार की क्षेत्रीय शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है। इन शैलियों में विभिन्न धर्मो से सम्बन्धित विविध दृश्यों का अंकन मिलता है।

13.7 बोध प्रश्न

1. प्रमुख स्थापत्य शैलियों के महत्व का वर्णन कीजिए।
2. विभिन्न क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियों का उल्लेख कीजिए।
3. स्तूप, गुफा एवं मन्दिर स्थापत्य का वर्णन कीजिए।

EXP-001/EXP-006

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, वाराणसी, 1987
2. मिश्र, आर0 एन0, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, 2002
3. राय, निहार रंजन, मौर्य तथा मौर्यत्तर कला, दिल्ली, 1979
4. रोलैंड, बेजामिन, आर्ट एण्ड आर्किटेक्टचर ऑफ इण्डिया, हार्मड्सबर्थ, 1956

इकाई–14–मूर्तिकला : आकार और प्रकार, आरम्भिक काल, हड़प्पा सभ्यता, मौर्य, शुंग, कुषाण काल एवं गुप्त काल

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 सैन्धव सभ्यता में मूर्तिकला

   14.3.1 प्रस्तर मूर्तियाँ

   14.3.2 धातु मूर्तियाँ

   14.3.3 मृण्मूर्तियाँ

14.4 मौर्यकालीन मूर्तिकला

   14.4.1 मौर्ययुगीन लोक कला

14.5 शुंग कालीन मूर्तिकला

14.6 कुषाण कालीन मूर्तिकला

   14.6.1 गान्धार कला शैली में निर्मित मूर्तियाँ

   14.6.2 मथुरा कला शैली में निर्मित मूर्तियाँ

14.7 गुप्तयुगीन मूर्तिकला

14.8 सारांश

14.9 बोध प्रश्न

14.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

14.1 प्रस्तावना

मूर्तियाँ मनुष्य की कथाभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। इनका निर्माण विषय एवं सामग्री एक नहीं रही। मूर्तियों के निर्माण में धातु–यथा स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, कांस्य, पीतल, मिश्रित धातु, काँच, हाथी दाँत, सीप, श्रृंग, शंख, काष्ठ तथा विभिनन प्रकार के प्रस्तर का उपयोग हुआ है। भारतीय मूर्तिकारों ने अनेक लौकिक तथा पारलौकिक विषयों

EXP-001/EXP-006

को अपनी कला द्वारा मूर्तिरूप प्रदान किया है। भारत में मूर्तिकला को धार्मिक तथा राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ फलस्वरूप भिन्न–भिन्न कालों में मूर्तियों की प्रदानता में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। भारतीय मूर्तिकला भारतीय संस्कृति एक महानतम् विरासत है जो इतिहास को लिपिरहित लेखन है। भारतीय मूर्तिकला अद्वितीय है। भारत के अन्यत्र की मूर्तिकला में भारतीय मूर्तिकला की भाँति पूर्णता, सहजता, सजीवता तथा संवेदनशीलता आदि विशेषताओं का अभाव है। इस इकाई में हम भारतीय मूर्तिकला का चरणबद्ध तरीके से अध्ययन करेंगे।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- भारतीय मूर्तिकला के प्रकार से परिचित हो सकेंगे।
- सैन्धवकालीन मूर्तिकला के आकार प्रकार से परिचित हो सकेंगे।
- मौर्यकालीन मूर्तिकला के आकार प्रकार से परिचित हो सकेंगे।
- शुंगकालीन मूर्तिकला के आकार प्रकार से परिचित हो सकेंगे।
- कुषाणकालीन मूर्तिकला की नवीन शैली से परिचित हो सकेंगे।
- गुप्तकालीन मूर्तियों के आकार प्रकार तथा उनकी सहिष्णुता के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

14.3 सैन्धव कालीन मूर्तिकला

सैन्धव सभ्यता के लोग मूर्तिकला से भली–भाँति परिचित थे। विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती है। सैन्धव सभ्यता के लोग मूर्तिनिर्माण में पत्थर, धातु तथा मिट्टी का प्रयोग करते थे।

14.3.1 प्रस्तर मूर्तियाँ

सैन्धव निवासी अपने प्रस्तर मूर्तियों के निर्माण में सेलखड़ी, अल्बेस्टर, चूना–पत्थर, बलुआ पत्थर, स्लेटी पत्थर आदि पत्थरों का प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ों से लगभग एक दर्जन प्रस्तर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें पाँच गढ़ी वाले टीले क्षेत्र के H.R. क्षेत्र से प्राप्त हुई है। यहाँ से सले खाड़ी प्रस्तर से निर्मित लगभग 19 सेमी0 की पुरुष मूर्ति प्राप्त हुई है। चन्दा महोदय इसे योगी की मूर्ति कहते है तथा मैके इसे पुजारी की मूर्ति मानते है। इस मूर्ति में केश पीछे की ओर एक फीते में बंधे हुए हैं, मस्तक छोटा है तथा ढलुआ है जिस पर एक गोल अलंकरण है।

EXP-001/EXP-006

मूर्ति के नेत्र पूरे नहीं खुले हैं तथा दृष्टि नासिकाग्र पर टिकी हुई है। ऊपर के अधरों की तुलना में नीचे के अघर मोटे हैं। इस मूर्ति में मुद्दों का अभाव है परन्तु दाढ़ी सँवरी हुई है। मूर्ति का गर्दन सामान्य से अधिक मोटा तथा चेहरा गोल है। बायें कंधे को ढंकते हुए तिपतिपा शाल का अलंकरण भी इस मूर्ति में हुआ है। मोहजोदड़ों से ही श्वेत प्रस्तर पर निर्मित लगभग सात इंच का पुरुष मस्तक प्राप्त हुआ है। इसमें केश छोटे हैं पीछे की ओर जुड़ा बंधा हुआ है, कानों की आकृति सीपी जैसी है तथा आँखों में पुतली है। इस मूर्ति में दाढ़ी तथा मूँछ दोनों है। यहाँ से एक ग्यारह इंच की पुरुष मूर्ति मिली है। जिसका ऊर्ध्वभाग नहीं है इसमें पीठ पर गूथे हुए केश का जुड़ा है तथा बायें कंधे पर वस्त्र ओढ़ा हुआ है। यह नीचे पारदर्शी वस्त्र धारण किया है। यहाँ से श्वेत प्रस्तर पर निर्मित दस इंच की संयुक्त पशुमूर्ति प्राप्त हुई जिसका मस्तक सूंड़दार हाथी है तथा शरीर भेड़ का है इसके अलावा एक नरसिंह की भी मूर्ति प्रापत हुई है।

हड़प्पा पुरास्थल से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियों में दो प्रस्तर मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय है। जो लाल बलुआ प्रस्तर तथा काले प्रस्तर पर निर्मित है जो कि नग्न एवं सीधे खड़े हुए पुरुष की है। यह मूर्ति सिररहित है। अंग अलग–अलग निर्मित होकर जोड़े हुए प्रतीत होते है। दूसरी मूर्ति के निर्माण में स्लेटी प्रस्तर का उपयोग हुआ है। इसके भी अंग अलग से युग्मित किये गये है। मार्शल की मान्यता है कि यह शिव–नटराग की आदिम मूर्ति है। बासुदेवशरण अग्रवाल महोदय शारीरिक बनावट तथा लक्षण को आधार मानकर इसे दिव्य नर्तकी की माना है।

14.3.2 धातु मूर्तियाँ

सैन्धव कलाकारों ने धातुओं के प्रयोग से भी अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया। सैन्धव सभ्यता के अनेक पुरास्थल यथा– मोहनजोदड़ों, चन्हूदड़ों, लोथल, कालीबंगन, दायमाबाद आदि से धातु मूर्तियाँ प्रकाश में आई।

सैन्धव कलाकार मूर्तियों का निर्माण मधूच्छिष्ट विधि से करते थे, इस विधि में पूरी मूर्ति एक बार में साँचे में ढलाई के माध्यम से निर्मित की जाती थी। मोहजोदड़ों से साढ़े चार इंच ऊँची कांस्यनिर्मित नर्तकी मूर्ति प्राप्त हुई है। उस मूर्ति के दोनों का निचला भाग टूटा हुआ है। इसका दाहिना हाथ कमर पर टिका हुआ है इसमें नर्तकी ने केयूर तथा कंगन पहना हुआ है। बाया हाँथ नीचे की ओर लटक रहा है जिसमें नर्तकी ने कलाई से कन्धे तक लगभग 25 चूड़ियाँ पहनी हुई है। नर्तकी ने कमर में मेखला तथा गले में हार पहना हुआ है। हार में पेण्डुलम जैसी तीन आकृति निर्मित है। इसके बाल घुंघराले हैं जो जुड़े में बांधकर दाहिनी लोर लटकाए गए हैं। नर्तकी के नेत्र आधखुली हुई है तथा अधर अलग–अलग है। उसके पाँव आगे की ओर उठे हुए हैं। भागवत शरण

EXP-001/EXP-006

उपाध्याय का मत है कि यह द्राविड़ नस्ल से सम्बन्धित नारी है। मार्शल इसकी साम्यता आदिवासी स्त्री से स्थापित करने का प्रयास करते है, यहीं से इस मूर्ति के अन्य एक और कांस्य की नर्तकी की मूर्ति तथा दो ताम्र मानव मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। पहली मानव मूर्ति का हाथ उसके कमर पर है तथा दूसरी मानव मूर्ति का हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है यहाँ से कूबड़दार वृषभ की भी धातु मूर्ति प्राप्त हुई जो कि ताम्र निर्मित है। यह आक्रामक मुद्रा में जिसका सींग तथा कान किसी फीते जैसे सामग्री से बांधा गया है। इसके अन्य लोथल से ताम्रनिर्मित श्वान मूर्तियाँ तथा कालीबंगन से ताम्रनिर्मित वृषभ मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है।

14.3.3 मृण्मूर्तियाँ

सैन्धव पुरास्थलों से बहुतायत में मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। प्राप्त मृण्मूर्तियों में अधिकांश मूर्तियाँ पशु–पक्षियों की है तथा लगभग एक चौथाई मूर्तियाँ पुरुष तथा स्त्रियों की हैं। मृण्मूर्तियों का निर्माण सौफियानी मिट्टी द्वारा किया जाता था। कुछ मृण्मूर्तियों में शरीर के सभी अंग अलग–अलग निर्मित किया गया है तथा उन्हें आपस में जोड़ा गया है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त पुरुष मृण्मूर्तियों में नाक लम्बी तथा थोड़ी दबी हुई, माथा ढलुआ, आँख लम्बी तथा शरीर चपटा हुआ दिखता है, मोहनजोदड़ों से प्राप्त कुछ पुरुष आकृतियों के शरीर में धागा बँधा हुआ है, ऐसी पुरुष मृण्मूर्तियाँ चन्हूदड़ों से भी प्राप्त होती है। मोहनजोदड़ों में एक मूर्ति मिलती है जिसे अग्रवाल महोदय ने 'हिशीर्ष महादेव' से सम्बन्धित किया है। वत्स महोदय को हड़प्पा से एक पुरुष मृण्मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें वह धोती पहने हुए है। सैन्धव पुरास्थलों से प्राप्त कुछ मृण्मूर्तियों के सिर पर सींग की आकृति बनाई गई है तथा कुछ मुखौटे भी प्राप्त होते हैं जिसमें सींग बना हुआ है।

पुरुष मृण्मूर्ति की तुलना में स्त्री मृण्मूर्तियाँ अधिक प्राप्त होती है। यह मूर्तियाँ पुरुष मृण्मूर्तियों की तुलना में अधिक सुन्दर है। स्त्री मृण्मूर्तियों में अनेक प्रकार के श्रृंगार के दृष्टिगोचर होते है। यथा– आभरण, कुण्डल, कंठहार, मेखला तथा भुजबन्द आदि। नौसेरा तथा मेहरगढ़ से प्राप्त कुछ नारी मूर्तियों का माँग लाल रंग के किसी पदार्थ से भरा हुआ है। बी0वी0 लाल महोदय उक्त पदार्थ को सिन्दूर बताते हैं। सैन्धव पुरास्थलों से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ अपने हाथों में बच्चा लिए है तथा कुछ का पेट गर्भवती स्त्री की भाँति बाहर निकला हुआ है। हड़प्पा से एक मूर्ति प्राप्त हुई है जिसकी योनि से पौधा निकलता हुआ दिखाया गया है, यहीं आटा गूथती स्त्री, तीन पांव वाली कुर्सी पर बैठी स्त्री की मृण्मूर्ति प्राप्त हुई है। धौलावीरा से प्राप्त एक नारी मूर्ति अपेन शिशु को स्तनपान कराते मुद्रा में है तथा उसका मुख पानी जैसा है। मोहनजोदड़ों से दो बच्चों की मृण्मूर्ति प्राप्त हुई हैं जो घुटने के बल चल रहे हैं।

EXP-001/EXP-006

सैन्धव कालीन मृण्मूर्तियों में सर्वाधिक संख्या पशु–पक्षियों की है। पशुओं में सर्वाधिक वृषभ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुइर्अ है तथा अन्य पशुओं में हाथी, गैंडा, बन्दर, सुअर, बाघ, भालू, खरगोश, भैंसा, भेड़ा, गिलहरी तथा सर्प की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुइर्अ हैं। पक्षियों में सर्वाधिक मृण्मूर्ति गौरैया की प्राप्त हुई हैं इसके अन्य मोर, कबूतर, तोता, चील, मुर्गा, उल्लू आदि की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त होती है। हड़प्पा से मछली, कछुआ तथा घड़ियाल की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। लोथल से घोड़े, गोरिल्ला तथा एक गर्दन से दो सिर निकलने वाले पशु की मृण्मूर्ति प्राप्त होती है। घोड़े की मृण्मूर्तियाँ सुरकोटदा तथा कालीबंगन से भी प्राप्त होती है। सैन्धव कुम्हार काँच की मिट्टी को गूंथकर काँच का चूर्ण मिश्रकर भी मूर्तियाँ तथा पात्र का निर्माण करते थे। इस मिट्टी से निर्मित बन्दर, दाने कुतरती गिलहरी आदि की मृण्मूर्तियाँ प्रकाश में आई है।

14.4 मौर्यकालीन मूर्तिकला

मौर्ययुगीन की श्रेष्ठतम मूर्तिकला अशोक के काल में दृष्टिगोचर होती है। अशोक के स्तम्भों पर विभिन्न पशुओं का अंकन मिलता है जो मौर्ययुगीन मूर्तिकला के उत्कृष्टता का परिचय देते है। उत्तराखण्ड के कालसी चट्टान तथा उड़ीसा की धौली चट्टान पर हाथी की आकृति उत्कीर्ण है। कालसी से प्राप्त गज प्रतिमा के पैरों के मध्य, 'गजतमे' अंकित है। बोधगया से प्रस्तर निर्मित हंस एवं मुचकुन्द से अलंकृत वज्रासन प्राप्त हुआ है। पवैया तथा कौशाम्बी से ताड़वृक्ष के साथ स्तम्भ मिलता है। वेसनगर से कल्पवृक्ष तथा ताड़वन युक्त स्तम्भ शीर्ष प्राप्त हुआ है।

14.4.1 मौर्ययुगीन लोककला

मौर्ययुगीन मूर्तिकारों ने स्वतंत्र रूप से मूर्तियों की भी रचना की। इन मूर्तिकारों ने लोकविषयों को अपनी कला से मूर्तिरूप प्रदान किया। मौर्ययुगीन पुरास्थलों पर प्रस्तर निर्मित यक्ष–यक्षिणी की प्रतिमा प्राप्त होती है। इनका आकार विशाल होता था तथा इनकी शारीरिक बलिष्ठता दिखती थी। इनके सिर पर पहाड़ी तथा भुजाओं पर उत्तरीय है। अधोवस्त्र में धोती पहनाया गया है। इन्हें कर्णफूल, कण्ठहार, भुजबन्द, कंगन आदि आभूषण पहनाते हुए दिखाया गया है। इनके वस्त्र तथा आभूषण मनहर है। वी0 एस0 अग्रवाल महोदय कहते हैं कि यह रूप की अभिव्यक्ति, आकृति की पूर्ण रेखा तथा कला की सूक्ष्मता का अद्भूत आदर्श प्रस्तुत करती है।

मौर्ययुगीन पुरास्थलों से प्राप्त यक्ष–यक्षी की प्रतिमा विवरण निम्न है–

- मथुरा से मिली यक्ष प्रतिमा
- मथुरा के परखम से मिली यक्ष प्रतिमा

EXP-001/EXP-006

- मथुरा के बड़ौदा से मिली यक्ष प्रतिमा
- मथुरा के झींग का नगरा से मिली यक्षी प्रतिमा
- ग्वालियर के पद्मावती से मिली यक्ष प्रतिमा
- पटना के दीदार गंज से मिली ग्रहणी यक्ष प्रतिमा (यह मूर्ति सर्वाधिक सुन्दर है)
- पटना से मिली दो यक्ष प्रतिमा
- विदिशा के बेसनगर से मिली यक्षी की प्रतिमा
- वाराणसी के राजघाट से मिली तीनमुखी यक्षी की प्रतिमा
- विदिशा से मिली यक्ष प्रतिमा
- उड़ीसा के शिशुपालगढ़ से मिली यक्ष प्रतिमाऐं
- कुरुक्षेत्र के आमीन से मिली यक्ष प्रतिमा
- महरौली से मिली यक्षी की प्रतिमा

इन मूर्तियों के अलावा सारनाथ, मथुरा, अहिच्छत्र, हस्तिानपुर, कौशाम्बी, बसाढ़, बुलन्दीबाग, कुम्हराहर आदि पुरास्थलों से पुरुष एवं स्त्री मूर्ति समेत अनेक पशु–पक्षियों के मिट्टी के मूर्ति प्राप्त हुए हैं। वाराणसी के सारनाथ से दो पुरुष मस्तक प्राप्त हुए हैं जो किसी मूर्ति के अंग थे। पटना के लोहानीपुर से जैन दिगम्बर की प्रतिमा का धड़ भाग प्राप्त हुआ है।

14.5 शुंगकालीन मूर्तिकला

शुंगकालीन पुरास्थलों से प्राप्त मूर्तियों में प्रस्तर मूर्तियाँ अत्यन्त कम है। इस काल में मूर्ति निर्माण साँचे में ढालकर किया जाता था। कौशाम्बी से सर्वाधिक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस काल की मृण्मूर्तियाँ अत्यन्त मनोहर है। यहाँ से सौन्दर्य की देवी श्री लक्ष्मी की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें से एक ऑक्सफोर्ड के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके दाये तथा बाये ओर मांगलिक प्रतीकों का अंकन है तथा शीश पर कमलपुष्प गुच्छ है। यहाँ से हास्यावस्था में स्त्री लीलाकमल युक्त स्त्री की भी मूर्तियाँ मिली है। दम्पत्ति तथा आमने–सामने बेंत पर बैठे स्त्री–पुरुष की मृण्मूर्तियाँ भी यहाँ से प्राप्त हुई है।

14.6 कुषाणकालीन मूर्तिकला

कुषाणकाल में मूर्तिकला की दो नवीन शैली का उदय हुआ जिनका विवरण

निम्नवत है–

14.6.1 गान्धार कला शैली में निर्मित मूर्तियाँ

गान्धार शैली में निर्मित मूर्तियाँ यूनानी कला से प्रभावित हैं। गान्धार शैली में निर्मित मूर्तियाँ तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वातघाटी, कपिशी, वामियान तथा वाह्लोक आदि परिक्षेत्र से प्राप्त होती है। गांधार पुरास्थल इस कला शैली में मूर्ति निर्माण का प्रमुख केन्द्र था इसीलिए यह कला शैली गान्धार नाम से ख्यातिलब्ध हुई। इस कला में निर्मित मूर्तियों को विषय मुख्यतः बुद्ध तथा बोधिसत्व थे। इनके निर्माण में पकी हुई मिट्टी, काली स्लेटी प्रस्तर तथा चूने आदि का प्रयोग किया जाता था।

बौद्ध मूर्तियाँ ध्यान, पद्मासन, वरद, अभय तथा धर्मचक्रप्रवर्तन आदि मुद्राओं में निर्मित है। बैठ मूर्तियों में बुद्ध को चप्पल पहने हुए तथा सिंहासनारूढ़ दर्शाया गया है। उनके तन पर आभूषण है तथा उनके केश उष्णीश के रूप में दर्शाये गये हैं। उष्णीश की साम्यता अपोलो तथा एक्रोडाइट की मूर्तियों के उष्णीश से स्थापित होती है। गान्धार शैली में निर्मित बुद्ध मूर्तियों के संवाटी पर सिलवटें दृश्य है। यह एक चादर की भाँति होता था जिससे शरीर ढका रहता था। इस कला में निर्मित बौद्ध मूर्तियों के वस्त्र अपेक्षाकृत मोटे प्रतीत होते हैं जिनसे दोनों कंधे ढके हुए हैं। कतिपय मूर्तियों में बाये पर वस्त्र है, दाहिने पर नहीं। उल्लेखनीय है कि कुछ बुद्धमूर्तियों में मूछों का अंकन भी प्राप्त होता है।

यूनानी कला से प्रभावित गान्धार शैली आध्यात्मिकता एवं भावुकता से रहित है। भारतीय विद्वान आनन्द कुमार स्वामी ने इन मूर्तियों को आत्मा रहित पुतले कहा है।

14.6.2 मथुरा कला शैली में निर्मित मूर्तियाँ

भारतीयता, आध्यात्मिकता एवं भावुकता से युक्त मथुरा कला दीर्घ काल तक भारतीय मूर्तियों के निर्माण का केन्द्र रहा। यहाँ की पाषाण मूर्तियों के निर्माण चत्तेदार बलुआ प्रस्तर का उपयोग किया गया है। मथुरा कलाकारों के निर्माण का विषय बौद्ध, जैन तथा हिन्दू देवी–देवताओं एवं यक्षर–यक्षिणियों की मूर्तियाँ थी। मथुरा में ही बुद्ध की प्रथम मथुरा कला में मूर्ति निर्मित हुई। बुद्ध की स्थानक मूर्तियाँ कंकाली टीला, गंमहोली, कौशाम्बी, सारनाथ पुरास्थल से प्राप्त हुई है। पद्मासन मुद्रा में कटरा तथा अन्योक से प्राप्त बुद्ध मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

कुषाणकालीन मथुरा शैली के कलाकारों ने हिन्दू देवी–देवताओं में शिव, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, कार्तिकेय, बलराम, इन्द्र, लक्ष्मी, दुर्गा, कामदेव, सप्तमातकारों आदि के मूर्ति का निर्माण हुआ। इस काल में निर्मित यक्ष तथा यक्षिकाओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं।

EXP-001/EXP-006

महोली तथा गोविन्दनगर से प्राप्त मथुरा संग्रहालय में संरक्षित यक्ष–यक्षिणियों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय है। इस कला में नरेशों की मूर्तियाँ भी निर्मित की जाती थी। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित कनिष्ठ की सिरविहीन मूर्ति उल्लेखनीय है। कुषण काल में मथुरा कलाकारों ने जैन प्रतिमाओं का भी निर्माण किया। इनमें जिन प्रतिमाएँ, आयागपट्ट, सर्वतोभद्रिको आदि प्रमुख है।

कुषणाकालीन मथुरा कला के शिल्पियों ने मूर्ति निर्माण में दार्शनिक पक्षों का भी ध्यान रखा है। इस काल में निर्मित मूर्तियों के पीछले हिस्से पर पशु–पक्षी, पुष्प आदि आकृतियों का अंकन किया गया है। शिलापट्ट पर निर्मित मूर्तियाँ भी आभूषण तथा केश से युक्त ळै। यहाँ के शिल्पियों ने मूर्त्रियों को हष्ट–पुष्ट आकार देने का प्रयास किया तथा मूर्तियों में हल्के वस्त्र का प्रदर्शन किया गया। मथुरा कला में निर्मित मूर्तियों में मूछों का अभाव दिखता है। इस काल में निर्मित देव–प्रतिमाओं का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में प्रदर्शित किया गया है।

14.7 गुप्तयुगीन मूर्तिकला

गुप्तकालीन नरेशों ने सभी कलाओं को संरक्षित किया तथा इनका विकास किया। गुप्तकालीन मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र मथुरा, कौशाम्बी तथा सारनाथ थे। इस काल में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ। अधिकांश गुप्त शासक वैष्णवमतानुयायी थे। इसलिये इस काल में विष्णु, उनके अवतारों तथा उनकी लीलाओं की अभिव्यक्ति मूर्तिरूप में भी हुई। इनमें बेसनगर से प्राप्त नृसिंह प्रतिमा, उदयगिरि से प्राप्त वाराह प्रतिमा, मथुरा एवं गढ़वा से प्राप्त विष्णु प्रतिमा उल्लेखनीय है। विष्णु प्रतिमाओं के साथ–साथ शिव तथा शिव के परिवार की गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त होती है। गुप्तकालीन महिषमर्दिनी, लक्ष्मी, मातृका, दुर्गा आदि की मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

गुप्तकालीन शिल्पियों ने जैन प्रतिमाओं का भी निर्माण किया। मथुरा से गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इन प्रतिमाओं के चारों ओर परिधारक हैं जो चैवर हिलाने की मुद्रा में है। कंकालीन टीला से एक पद्मासन मुद्रा में बैठे जैन तीर्थांकर की मूर्ति प्राप्त हुई है।

गुप्तकालीन शिल्पियों द्वारा निर्मित बुद्ध मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। सारनाथ बुद्धमूर्ति निर्माण का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ बुद्ध की दो स्थानक मूर्तियाँ तथा एवं पद्मासन मुद्रा में बैठे धर्मचक्र मुद्रा में बौद्ध भिक्षुओं से घिरी मूर्ति प्राप्त हुई है।

प्रस्तर प्रतिमाओं के साथ–साथ इस काल में धातु मूर्तियों एवं मृण्मूर्तियों का भी निर्माण किया गया। बिहार के सुल्तानगंज से गुप्तकालीन ताम्र बुद्ध मूर्ति प्राप्त हुई है।

EXP-001/EXP-006

चौसा नामक स्थल से अनेक धातुमूर्तियाँ प्राप्त हुई है। गुप्तकालीन पुरास्थल कौशाम्बी, राजघाट, भीटा और मथुरा से अनेक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है इनका विषय लौकिक, विषय, प्राकृतिक विषय तथा हिन्दू देवी–देवता, अहिच्छत्र से गंगा तथा यमुना की मृण्मूर्तियाँ तथा कश्मीर से मानवशीर्ष प्राप्त हुए है।

14.8 सारांश

मूर्तिकला से समृद्ध भारतीय भू–भाग के शिल्पियों ने मूर्तियों के माध्यम से लौकिक एवं पारलौकिक विषयों का शिल्पांकन किया। सिन्धु घाटी सभ्यता से आरम्भ मूर्तिकला मौर्ययुग में स्तम्भों के शीर्षो पर शोभायमान रही। कालान्तर में गान्धार तथा मथुरा मूर्तिकला के विशाल केन्द्र के रूप में स्थापित हुआ। सांची, सारनाथ, मथुरा, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, बंगाल, बिजहार आदि से अनेकों मूर्तियाँ प्राप्त हुई। कुषाण शासकों ने गांधार एवं मथुरा कला को संवर्धित किया जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन तीनों वर्गों की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुप्त काल तक कला अपने उत्कृष्टता को प्राप्त हुई। मूर्तिकारों ने प्रस्तर मूर्तियों, धातु मूर्तियों एवं मृण्मूर्तियों का अत्यन्तक कलात्मक रूप से निर्माण किया।

14.9 बोध प्रश्न

- मूर्तिकला के विकास पर टिप्पणी कीजिए।
- मथुरा कला गान्धार कला से किन पक्षों में भिन्न थी स्प्ष्ट कीजिए।
- गुप्तकालीन मूर्तिकला पर टिप्पणी कीजिए।

14.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986
6. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला, वाराणसी, 1987
7. भण्डारकर, आर0 जी0, द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन, बम्बई, 1957
8. डेविड्स, आर0, बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1955
9. गुप्त, एस0 पी0, दि रूट्स ऑफ इंडियन आर्ट, दिल्ली, 1980
10. गोयल, श्रीराम, प्राचीन भारत का इतिहास, खण्ड 1, जोधापुर, 1998

    गोयल, श्रीराम, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म, मेरठ, 1987
11. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2000

EXP-001/EXP-006

12. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त, भारत का बृहत इतिहास, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970

13. मजूमदार, रमेशचन्द्र, प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973

14. मिश्र, आर0 एन0, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, 2002

15. पाण्डेय, विमल चन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, इलाहाबाद, 1998

16. पुरी, बी0 एन0, इण्डिया अण्डर दि कुषाणज, बम्बई, 1965

17. राय, निहार रंजन, मौर्य तथा मौर्यत्तर कला, दिल्ली, 1979

18. रोलैंड, बेजामिन, आर्ट एण्ड आर्किटेक्टचर ऑफ इण्डिया, हार्मड्सबर्थ, 1956

19. रैप्सन (संपा0), कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो0 1, कैम्ब्रिज, 1922

20. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009

EXP-001/EXP-006

इकाई—15— जनजातीय संस्कृति जनजाति क्या है? अस्मिता क्या है? अस्मिता के प्रकार, जनजातीय अस्मिता का निर्माण, एतिहासिक और भौगोलिक विस्तार सांस्कृतिक आयाम, सामाजिक संगठन, जनजातीय धर्म

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 जनजाति क्या है?

15.4 अस्मिता क्या है?

15.5 अस्मिता के प्रकार

15.6 जनजातीय अस्मिता का निर्माण

15.7 जनजातीय क्षेत्र का भौगोलिक विस्तार

15.7.1 उत्तर भारत तथा उत्तर पूर्वी भारत

15.7.2 मध्य भारत

15.7.3 दक्षिण पश्चिम भारत

15.7.4 अन्य क्षेत्र

15.8 सांस्कृतिक आयाम

15.9 जनजातियों का सामाजिक संगठन

15.10 जनजातीय वर्ग

15.11 सारांश

15.12 बोध प्रश्न

15.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

15.1 प्रस्तावना

EXP-001/EXP-006

भारतीय भू—भाग पर निवास करने वाली जनसंख्या का एक विशाल जनभाग जनजातियों का है। यह जनजातियाँ प्राक् ऐतिहासिक काल से ही भारतीय संस्कृति का भाग है जिनका वर्णन कालान्तर में रचित वैदिक ग्रंथों, महाकाव्यों, पौराणिक ग्रंथों तथा ऐतिहासिक अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। इक्कीसवीं शताब्दी के पहले (2001) दशक में

हुई जनसंख्या के आँकड़े यह बताते हैं कि भारतीय जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत जनजातियों की संख्या थी। समाज के निर्माण तथा विखण्डन के क्रम में कुछ जनजातीय समुदाय के स्वरूप में परिवर्तन आया तथा वह मुख्य धारा से मिल गये परन्तु फिर भी अनेक ऐसे जनजातीय समुदाय हैं जो अपने मूल स्वरूप में देश के विभिन्न क्षेत्रों में निवास कर रहे हैं। भिन्न–भिन्न स्थान पर निवास करने वाली जनजाति की अपनी भिन्न–भिन्न संस्कृति है। जनजातियों की मान्यताओं, रीति–रिवाजों, धार्मिक क्रियाकलापों आदि में भी विविधता दृष्टिगोचर होती है।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- जनजातियों को समझ सकेंगे।
- अस्मिता का अर्थ तथा उसके आयाम को जान सकेंगे।
- जनजातियों के भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विस्तार से परिचित होंगे।
- जनजातियों के सामाजिक संरचना को समझ सकेंगे।
- जनजातीय धर्म को समझ सकेंगे।

15.3 जनजाति क्या है?

जनजाति शब्द जिसका अर्थ है 'कुटुम्ब' तथा Tribe। देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसारTribe का प्रयोग भिन्न–भिन्न आयामों में हुआ है। रोमन शब्द 'Tribuze' से उत्पन्न हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ 'तीन भाग' है। प्राचीन काल में जनजातियों की स्थिति वर्तमान स्थिति से भिन्न थी। वैदिक ग्रंथों में शक्तिशाली जनजातियों का वर्णन प्राप्त होता है। वर्तमान भारतीय समाज में जनजातियों के लिये वन्यजाति, आदिवासी, वनवासी, आदिमजाति, गिरिजन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों की व्याख्या करने पर ऐसा समझ आता है कि जनजातियाँ जंगल तथा पर्वतों पर निवास करती हैं परन्तु इन स्थानों के अन्य रेत तथा सामान्य भूमि भी जनजातियों का निवास स्थल है। भारतीय संविधान में सामाजिक वर्गीकरण में एक वर्ग अनुसूचित जनजाति का है जिसमें भारतीय भू–भाग के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले जनजातियों को सम्मिलित किया गया है। 1991 में हुइर्ग भारतीय जनगणना में जनजातियों के सन्दर्भ में यह कहा गया कि 'ये अपने सीमित साधनों से मात्र जीवित रहना ही सीख सके हैं और आज भी विज्ञान की वर्तमान चकाचौंध एवं सभ्यता की होड़ से परिचित नहीं है। ऐसे ही अपरिचित लोगों का वर्णन भारतीय संविधान में अनुसूचित आदिमजाति या जनजाति के

EXP-001/EXP-006

अन्तर्गत किया गया है।''

जनजातियों के सन्दर्भ में एक अवधारणा यह भी है कि यह भारतीय भू–भाग के मूल निवासी है। आर्य आक्रमण के सिद्धान्त करने वाले विद्वान यह मानते हैं कि जनजाति समूह आर्यों के आगमन के पश्चात् स्वयं को सुरक्षित रखने के लिये वे जंगलों की ओर गये तथा शनैः शनैः यह जंगल के निवासी हो गये।

हरबर्ट रिजले नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'दी पीपुल्स ऑफ इण्डिया में द्रविड़' को भारत का मूल प्रजाति स्वीकार किया है।

वर्जीनियन खाखा नामक एक विद्वान ने भारतीय जनजातियों पर अध्ययन किया। खाखा महोदय के मतानुसार, ''भारत में जनजातियों की परिकल्पना मुख्य रूप से वृहद भारतीय समाज से उनके भौगोलिक और सामाजिक अलगाव के रूप में की जाती है और इसमें उनके सामाजिक रूपान्तरण के चरण को ध्यान में नहीं रखा जाता है। यही कारण है कि सामाजिक रूपान्तरण के विभिन्न स्तरों पर समूहों और समुदायों का एक विस्तृत दायरा जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया। इस तथ्य को देखते हुए कि जनातियाँ वृहत्तर भारतीय समाज से पृथक रही हैं, अपने अधिवास के प्रदेश पर शासन में उनकी स्वायत्ता है। उनका भूमि वन और अन्य संसाधनों पर नियंत्रण है और वे स्वयं के कानूनों, परम्पराओं और रीति–रिवाजों से शासित हैं।

जे0 एच0 हट्टन नाम विद्वान ने भारत में निवास करने वाली जनजातियों का वर्गीकरण तीन प्रजातियों के रूप में किया है– 1. नीग्रीरो 2. प्रोटो आस्ट्रेलॉयड तथा 3. मंगोलायड, परन्तु मजूमदार महोदय भारतीय जनजातियों में निग्रीरों तत्व को नकारते हैं तथा भारत की प्राचीनतम जनजाति के रूप में आस्ट्रेलायड को स्वीकार करते है।

रॉल्फ लिण्टन के जनजातियों के सन्दर्भ में कहा है कि सरलतम रूप में जनजाति एक ऐसा मानव समूह है जो एक विशेष भू–भाग पर रहता है, तथा जिसमें सांस्कृतिक समानता, निरन्तर सम्पर्क, तथा कुछ विशेष हितों के कारण सामुदायिक एकता की भावना होती है एवं जिसका जीवन रीति–रिवाज और व्यवहार के तौर–तरीके आदिम अर्थात् आदिकालीन विशेषताओं से युक्त रहते है।

डॉ0 मजूमदार ने जनजातियों को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''एक जनजाति अनेक परिवारों के समूह का एक संकलन होता है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू–भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते है और एक निश्चित एवं उपयोगी आदान–प्रदान का परस्पर विकास करते हैं।

EXP-001/EXP-006

रवीन्द्रनाथ मुखर्जी महोदय ने जनजातियों को ऐसा क्षेत्रीय समूह कहा है जो भू–भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक समानता के सूत्र में बंधा होता है।

15.4 अस्मिता क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति की भावना एक निजी पहचान होती है तथा वह पहचान देश काल परिस्थिति के अनुसार प्रासंगिक तथा अप्रासंगिक होती रहती है यथा– अपने कार्यस्थल पर व्यक्ति की पहचान व्यक्ति के नाम तथा कार्य से होती है परन्तु पिता के ग्राम/समाज में व्यक्ति अपने पिता द्वारा पहचाना जाता है। इसके उलट वह अपने ननिहाल में अपने माता द्वारा पहचाना जाता है। दूसरे जनपद में वह अपने जनपद द्वारा, दूसरे प्रान्त में वह अपने प्रान्त द्वारा, दूसरे राष्ट्र में वह अपने राष्ट्र द्वारा पहचाना जाता है। वस्तुतः व्यक्ति के मन में उत्पन्न प्रश्न कि वह क्या है? समाज में उसका क्या स्थान है? उसका अस्तित्व क्या है? उसका अधिकार तथा कर्तव्य क्या है? उसकी पहचान क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न व्यक्ति में अपने अस्तित्व बोध की चेतना का जन्म होता है तथा यहीं से अस्मिता का निर्माण आरम्भ होता है।

15.5 अस्मिता के प्रकार

अस्मिता का अर्थ है पहचान। इसका सर्वमान्य वर्गीकरण अत्यन्त कठिन है। अध्ययन की सुविधा के अनुसार इसका वर्गीकरण भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न प्रकार से किया है। व्यक्ति की एक अस्मिता जन्मजात होती है जिसमें उसकी लैंगिक अस्मिता उसकी जाति, माता–पिता तथा पारिवारिक संरचना सम्मिलित होती है। इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके अलावा भाषा, ज्ञान, कौशल, मित्र, शिक्षक, प्रशासन आदि भी अस्मिता से सम्बन्धित है जिसका चुनाव व्यक्ति द्वारा किया जाता है। व्यक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से जुड़कर स्वतंत्र अस्मिता का भी निर्माण करता हो। इसके अन्य धर्म, सांस्कृतिक व्यवहार तथा व्यक्ति पर संस्कृति का प्रभाव भी अस्मिता के प्रकार में गिने जाते है।

संक्षेप में अस्मिता के प्रकार को हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं–

राष्ट्रीय अस्मिता–

यदि आप किसी अमेरिकी व्यक्ति से मिल रहे हैं तो आपकी दृष्टि में उसकी अस्मिता उसका अमेरिका राष्ट्र का होना है। इसी प्रकार जब किसी दूसरे राष्ट्र के व्यक्ति से मिलते हैं तो उसकी दृष्टि में हमारी पहचान भारतीय होना है। उदाहरण के लिये दूसरे राष्ट्र से आये महत्वपूर्ण व्यक्तियों की पहचान भी उसके राष्ट्र के माध्यम से ही की

EXP-001/EXP-006

जाती है। जैसे– अमेरिकी राष्ट्रपति, नेपाल का राजदूत, रूसी प्रधानमंत्री आदि।

भारतीय अस्मिता–

भाषा अभिव्यक्ति का सर्वाधिक प्रचलित एवं सफल माध्यम है। व्यक्ति, वर्ग, समाज और राष्ट्र की अस्मिता उसके भाषा द्वारा व्यक्त होती है। भारत के अनेक बोली तथा भाषा है जो अलग–अलग क्षेत्रों में बोली जाती है जैसे अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, उड़िया, कन्नड़, बंगाली आदि। यह राष्ट्र के भीतर भाषायी अस्मिता का बोध कराती हैं। राष्ट्रों की अपनी अलग राष्ट्र भाषा होती है जो उसकी अस्मिता से जुड़ी होती है।

धार्मिक अस्मिता–

विश्व में विभिन्न प्रकार की मान्यताओं, रीति–रिवाज, धार्मिक विश्वास, देवी–देवता को मानने वाले है। अलग–अलग धार्मिक मान्यताओं को मानने वाले समुदाय की मान्यता दूसरे धार्मिक मान्यताओं को मानने वाले से पृथक हैं तथा एक धर्म को मानने वाले लोगों की मान्यताओं, रीति–रिवाज, विश्वास, अनुष्ठान आदि में समानताएँ है। इस प्रकार धार्मिक अस्मिता का निर्माण होता है। धार्मिक अस्मिता के अन्तर्गत विशाल जनसमूह आता है। कुछ प्रमुख प्रचलित धर्म में हिन्दू, इस्लाम, इसाई, आदि।

जातीय अस्मिता–

जातीय अस्मिता मुख्य रूप से धार्मिक अस्मिता तथा पारिवारिक अस्मिता से जुड़ा हुआ है। धार्मिक अस्मिता के अन्तर्गत अनेक जातीय अस्मिता होती है। जातीय अस्मिता की व्यापकता धार्मिक अस्मिता जितनी अधिक नही होती परन्तु यह एक विशेष पहचान हैं जो परम्परा को द्योतक है।

लैंगिक अस्मिता–

लैंगिक अस्मिता को मुख्य रूप से सेक्स तथा जेंडर के रूप में देखा जाता है। इसको मुख्य रूप से तीन भागों में वर्गीकरण होता है प्रथम स्त्री, द्वितीय पुरुष तथा तृतीय जो न पूर्ण स्त्री है और न ही पूर्ण पुरुष। इसे 'ट्रांसजेंडर' की संज्ञा दी गयी है। लैंगिक अस्मिता सामाजिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं को भी प्रभावित करती है। आरम्भ में तृतीय लिंग श्रेणी के लोग समाज की मुख्यधारा से दूर थे परन्तु शनैः शनैः वह संवैधानिक पदों तथा समाजोपयोगी पदों पर नियुक्त होकर समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित हो रहे हैं।

पारिवारिक अस्मिता–

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई होती है। समाज में परिवार हमारी अस्मिता का आधार होता है जिसका हमारे व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

EXP-001/EXP-006

व्यवसायिक अस्मिता–

व्यक्ति को अपने जीवन यापन के लिये कुछ न कुछ कार्य करना पड़ता है जो उसकी व्यवसायिक अस्मिता होती है जैसे विद्यालय में पढ़ाने वाला शिक्षक है यह उसकी पहचान है। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्र में कार्य करने वालों की उसकी व्यवसायिक अस्मिता है। यथा अधिवक्ता, प्रोफेसर, टूरिस्ट गाइड, व्यवसायी, चिकित्सक, जज आदि।

निजी अस्मिता–

प्रत्येक व्यक्ति दूसरे विषय से पृथक है। व्यक्ति की प्रकृति, विचार, स्वभाव, मान्यताएँ दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती हैं जो उसकी स्वतंत्र अस्मिता का निर्माण करता है।

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि अनेक तत्व अस्मिता का निर्माण करते है। यह किसी स्वतंत्र तत्व द्वारा निर्मित नहीं है।

15.6 जनजातीय अस्मिता का निर्माण

जैसा कि हमने पूर्व में जाना कि अस्मिता का अर्थ होता है पहचान। हमारी पहचान क्या होगी इसमें सामने वाले का निर्धारण अधिक होगा जिस प्रकार हमारी दृष्टि में भिन्न–भिन्न व्यक्ति की पहचान पृथक् होती है। सम्भव है कि हमारे निर्मित पहचान से वह परिचित ही न हो। संक्षेप में इसे तरह समझा जा सकता है कि हमारी पहचान दूसरे की नजरियें पर अधिक निर्भर है। जनजातीय अस्मिता के निर्माण पर जब हम विचार करते हैं तब भी जनजातीय समाज के विषय में गैर जनजातीय विचार अधिक प्रभावी दृष्टिगोचर होते है। वह कौन–कौन से तत्व है जो जनजातीय अस्मिता का निर्धारण करते हैं। इन तत्वों से किस प्रकार जनजातियों का निर्माण होता है तथा समान की मुख्यधारा तथा जनजातीय समाज के मध्य की विभाजन रेखा कौन–सी है।

जब हम जनजातियों के विषय में विचार करते हैं तो पाते है कि यह अपनी संस्कृ ति तथा विरासत के साथ किसी भी प्रकार का समझौता किये बिना प्रकृति के निकटस्थ है। यह उस प्रगति को स्वीकार करने में कम सफल रही जहाँ इन्हें अपनी संस्कृति के साथ समझौता करना पड़े इसलिए आज की सफलता की परिभाषा में इन्हें कम सफल समझा जाता है। प्रत्येक जनजाति अपनी पृथक् संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है।

प्रत्येक जनजाति का एक–दूसरे से पृथकता के अनेक आधार हो सकते हैं। यथा– भौगोलिक विस्तार, भाषा, जाति, धर्म, परिवार, गोत्र, व्यवसायिक ढाँचा आदि परन्तु भारतीय सन्दर्भ में अनेक विशेषताएँ ऐसी हैं जो भारतीय जनजातियों में सामान्य रूप से

EXP-001/EXP-006

पायी जाती है।

मुख्य धारा के समाज तथा जनजातीय समाज के मध्य सम्बन्ध भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। कुछ जनजातीय समुदाय ऐसे हैं जिनका मुख्य धारा के समाज से बिल्कुल भी सम्पर्क नहीं है, जैसे जीरणा जनजाति, भोग जनजाति तथा अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में निवास करने वाली स्थानीय जनजाति। इसके विपरीत कुछ जनजातीय समुदायों ने मुख्य धारा के समाज के मध्य सांस्कृतिक आदान–प्रदान भी हुआ। उदाहरणार्थ गुजरात तथा राजस्थान में निवास करने वाली जनजातियाँ बोल–चाल में स्थानीय भाषा का प्रयोग करने लगी हैं। यहाँ निवास करने वाली जनजातियों ने समाज के कुछ तत्वों को स्वीकार किया है परन्तु इनकी जनजातीय अस्मिता तथा मान्यताएं अपतन, अपरिवर्तनशील है।

कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जो सांस्कृतिक आदान–प्रदान के क्रम में दूसरे धर्म के सभी तत्वों को अंगीकार कर उसमें विलीन हो गयी। भाल, मुण्डा, संथाल, जुंबांग आदि जनजातियों शनैः शनैः हिन्दू धर्म के तत्वों को स्वीकार कर लिया। वह जनजातीय समाज जो शक्तिशाली हुए तथा राजनीतिक सत्ता को प्राप्त किये वह भी हिन्दू धर्म को अंगीकार कर लिए।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जनजातियों की अस्मिता नियंत्रण के लिये संविधान में अनुसूचित जनजातियों की सूची निर्मित की थी जिसमें 1976 ई0 में संशोधन किया गया। इसमें अनेक ऐसे जनजातियों को सम्मिलित यिका गया जो पूर्व में उपेक्षित थे।

जनजातीय पहचान अस्मिता के निर्माण का आधार एक नहीं है क्षेत्रीय, प्रान्तीय तथा कभी–कभी राष्ट्रीय आधार पर भी इनकी अस्मिता का निर्माण होता है। कभी–कभी जनजातियों का प्रसार राष्ट्रीय सीमा का भी अतिक्रमण करता है।

जनजातियों का प्रतिनिधित्व उनके समुदाय के प्रतीक चिह्न भी करते है। भिन्न–भिन्न जनजातीय समाज का भिन्न–भिन्न प्रतीक चिह्न होता है। जैसे मध्य भारत की अनेक जनजातियों के पुरुष तथा कहीं–कहीं स्त्री अपने शरीर पर चिह्न अंकित कराती हैं जिसे 'गोदाना' कहा जाता हे। मेघालय के खासी तथा खिनेरी जनजाति, नागालैण्ड की नागा–कड़ाई जनजाति तथा उड़ीसा की दलूई जाति का प्रतीक चिह्न ध्वज है। कहीं–कहीं की जनजातियों का प्रतीक चिह्न उनके द्वारा पहने जाने वाला विशेष परिधान है यथा–नागालैण्ड तथा मणिपुर के लोग एक विशेष प्रकार का शॉल ओढ़ते है।

EXP-001/EXP-006

15.7 जनजातीय क्षेत्र का भौगोलिक विस्तार

भारतीय भू–भाग के विशाल परिक्षेत्र पर जनजातीय समुदाय निवास करते हैं। अध्ययन की सुविधानुसार इन्हें 4 भागों में विभक्त किया जा रहा है।

15.7.1 उत्तर भारत तथा उत्तर पूर्वी भारत में निवास करने वाली जनजातियाँ–

इस परिक्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियाँ मुख्यरूप से मंगोल प्रजाति से सम्बन्धित है। इस क्षेत्र में अरूणाचल प्रदेश, असम, मेघालय, नागालैण्ड, त्रिपुरा, मणिपुर, मिजोरम, जम्मू तथा कश्मीर का पूर्वी भाग, हिमाचल प्रदेश, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश का कुछ क्षेत्र आता है। अरूणाचल प्रदेश में अदि, यका, अपातानी, बंगनी, खम्भा, सम्पत्ति, खोआ, मेम्बा, मिप, हिस निरि, मिशिंग, निशमी, मौंपा, ना, निशि, नोक्ते, शरडुकपेन, सुतंग, सिंगफो, तागिन, तांगसा, वाचो, योविन, जाखरिंग आतदि जनजातियाँ निवास करती है। असम में चकमा, दिमासाकचारी, गारो, हाजोंग, हमार, खासी, जैटिया, सितेंग, जार, वार, भोई, लिगंग, इकी, लखेर, मान, मिजो, मिकिर, नागा, पावी, सिन्थेग, बोरो, बोराक चारी, देवरी, होजाई, कचारी, सोनवाल, ललूंग, मंच, मिरि, राभा इत्यादि जनजातियाँ निवास करती है। यहाँ की बोरो–बोरो कचारी जनजाति संस्था की दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली जनजातियाँ है।

त्रिपुरा में भील, भूटिया, चैइमल, चकमा, गारो, हलम, जमातिया, खासिया, कूकी जनजाति, लेप्चा, लूशई, माघ, मुण्डा, नोआटिया, ओरंग, रिआंग, संथाल, त्रिपुरा, त्रिपुरी, त्रिपेरा, उचई आदि जनजातियाँ निवास करती हैं। मणिपुर में रहने वाली प्रमुख जनजातियाँ अपमोल, अचल, भंगमी, चीरू, चोटे, गंगते, हमार, कबुई, कचा नागा, कोकरान, कोरिंग, कोन, लामगंग, माओ, मरम, मारिंग, मिजो, मोसंग, मोयो, पदूत, रालते, सेमा, सिमतिया, सहते, तंगखुल, थाडु, वइफई, झोऊ आदि हैं। हिमाचल प्रदेश में मुख्य रूप से बरघ, गद्दी, किन्नौर, खम्पा, खास, लाहुली, पंगवाल जनजातियाँ निवास करती है। जम्मू तथा कश्मीर परिक्षेत्र में रहने वाली प्रमुख जनजातियाँ बकरवाल, वेदा, बोध, कोक–पा, दोखपा, गारा, गुजर, मुसलमान, हाजोंग, लद्दाखी, मोन आदि हैं। मेघालय में रहने वाली प्रमुख जनजातियाँ भोई, बोरो, चकमा, दिमासा, गारो, हाजोंग, हमार, जैतियाँ, करवी, खासी, कोच, कूकी, लखेर, लिंगगम, मान, मिजो, नागा, पावी, जार, राभा, सितेंग, वार आदि है। नागालैण्ड एक जनजातीय राज्य है जिसका नामकरण नागा नामक जनजाति के आधार पर हुआ है। यहाँ निवास करने वाली प्रमुख जनजातियों में नागा जनजाति सर्वप्रथम है जिसके अन्तर्गत ओ, अंगमी, चाग्णेसंग, चांग, चीरू, खीमनुंगन, कोपंक, लोघ, मकवारी, फोम, रेंगमा, संगताम, सेमा, लिखिर, यिमचुंगरे, जेलिआंग जनजातियाँ आती हैं। इसके अन्य आदि, अका, दिमासा, गालोंग, गारो, खामी, जैतियाँ,

EXP-001/EXP-006

खोआ, कूकी, कारवी, मिजां, सिंग, मोखा आदि जनजातियाँ भी नागालैण्ड में निवास करती हैं, मिजोरम में निवास करने वाली जनजातियों में चकमा, दिमासा, गारो, हाजोंग, ह्मार, खासी, जैतियां, सितेंग, प्नार, वार, भोई, लिंगगम, कूकी, लेखर, मान, मिजो, करबी, नागा, पावी आदि उत्तर प्रदेश का कुछ भाग जनजातीय क्षेत्र के रूप में घोषित है जिसमें उत्तर प्रदेश का दक्षिणी भाग तराई भावर और पहाड़ी क्षेत्र सम्मिलित है। इसमें मुख्य रूप से जौनसरी, भोटिया, राजी, थारू, बुक्सा आदि जनजातियाँ निवास करती है।

15.7.2 मध्य भारत में निवास करने वाली जनजातियाँ–

वर्गीकरण के इस भाग में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश का क्षेत्र आता है। बिहार में निवास करने वाली जनजातियों में असुर, भूमिज, बिरजिया, बेदिया, बिंझिया, बिरहोर, बाखुदी, चिक बरैक, चेक, गोंड, गोरैत, हो, कोरा, खाना, खरवार, करमली, कोरवा, खोडं, किसान, लोहरा, मुंडा, महाली, माल पहड़िया, मरू, ओरांव, परहाइया, सावर सौन पहड़िया संथाल आदि है। बंगाल की रहने वाली जनजातियों में भूरिया, भूमिज, चकमा, गारो, हो, कोडा, लपेचा, हाडा, लोरहा, लोधा, महली, मंच, मुण्डा, नगेरिया, ओराव, राभा संथाल आदि प्रमुख है। राजस्थान की जनजातियाँ मुख्य रूप से मरूस्थलीय क्षेत्र में निवास करती हैं। इनमें बवाचा, भील, बरदा, चौधरी, दमोर, डुबला, गराशिया, कोफना, कुनशी, कोली महादेव, कोली मलहार, मीणा, पारधी, पोमला, पटेलिया, रपवा सहारिया, ठाकुर, वितोलिया, वरली आदि प्रमुख है। गुजरात में निवास करने वाली जनजातियाँ भील, धमका, गमित, कोलि, धोरे, कापोदी, नैकदा आदि हैं। महाराष्ट्र में अंध, भील, बैगा, भूंजिया, गोंड, कैरवार, कोल, कोरवा, कमार, कोलम, निहाल, गोरॉव, प्रधान, सहारिया, सावर आदि जनजातियाँ निवास करती है। उड़ीसा में निवास करने वाली जनजातियों में बंगरा, भूंथा, भूइया, भूमिज, बंजारी, बिन्झिना, भोटोडा, भूमिया, बाथोडी, बोंडे, पोराजी, दल, दिदई, धारुस, गोंड, गदाबा, जुआंग, जटापुस, हो, कोल, कोपा, कोंड, धांस, तुलिया, कोंध, कोरिया, विथोरिया, कोल्हा, खरिया, कोरुआ, कोरा, किसान, लांथा, मुण्डा, मिरथा, महाली, मत्या, मुंडारी, ओमात्या, ओरांव, पेंतिया, परेंगा, पोरजा, राजनार, संथाल, सोउंटी, सावर, शबर आदि प्रमुख है। मध्य प्रदेश में निवास करने वाली जनजातियों में अगारिया, अबुझमारहिया, बैगा, भैना, भारिया, भतरा, भील, भीलाल, विंझवार, भुइया, भुंजिया, धनवार, धोलिया, धुरवा, दोरला, गदवार, गोंड, हलवा, कलंगा, कमार, कवार, खैरवार, खमारिया, खोंड, कोल, कोरकू, कोरवा, मंझवार, मुंडा, मूरिया, नगरची, नागेसिया, निहाल, ओझा, ओराव, पाओ, प्रधान, सहारिया, साबर आई है।

EXP-001/EXP-006

15.7.3 दक्षिण पश्चिम क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियाँ–

इस क्षेत्र में आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु में निवास करने वाली जनजातियाँ आती है। कन्याकुमारी से लेकर विन्ध्याचल के मध्य निवास करने वाली जनजातियाँ प्राचीनतम जनजाति मानी जाती है। इस परिक्षेत्र में मुख्यतः अडिदयम, बगता, चैंचु, गौड, गौडो, गोंड, गदाबा, गाओदेड, हक्की पिक्की, हसलारु, पहाड़ी आरिया, पहाड़ी पुलया, इरूलिंग, इररूलार, जतबू, जेनू कुरुबा, कोया, कोंडा रेड्डीस, कम्मारा, खोंड, कोतिया, बेंथोरिय, कनीकरन, कुरुमान, कुरिचन, कादर, कट्टुनायकन, कुरम्बस, कूडिया, कोरगा, कड, कुरुवा, केरलास, कनटिका, कोंड काउस, मुंडा, मुखधोरा, अली, मलया, आर्या, मलधन, मन्नाम, मलयाली, मलय अरयार, मलासर, मुचुब्रन, मराती मराठो, मलया कांदी, गलेरू, निहाल, परधान, पोरजा, पल्लियन, पनिपन्न, रेहड़ी, धोरांस, सावर, सोलिगास, सुगाली लम्बाड़ी, तमिलनाडु, उत्साहन, उराली, वाल्मीकि, येरावां, येनियादि, युरुकुला आदि जनजातियाँ निवास करती हैं।

15.7.4 अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियाँ–

इन क्षेत्रों में मुख्य रूप से वह जनजातियाँ आती हैं जो केन्द्रशासित प्रदेश यथा अण्डमान एवं निकोबार द्वीप, लक्ष्यद्वीप, दमन दीव तथा दादरा और नागर हवेली में निवास करती हैं। दमन तथा दीव में निवास करने वाली मुख्य जनजातियाँ धोड़िया, दुबला, सिहदी आदि है। लक्ष्यद्वीप में प्रमुख से कोया, मालयी, मेलाचेरी, अनिकफान, धाकरूफान, थाकरु, रावेरी आदि जनजातियाँ निवास करती है। अण्डमान और निकोबार द्वीप में निवास करने वाली प्रमुख जनजाति वी, बलवा, कारी, कोरा, जेऊ, बो, कंदा, कोस, जुवाई, पुखीकवार आदि है। दादरा और नागर हवेली में आगरी, भरवाद, चमार, धोडिया, कहार, कपाड़िया, कापोडी, कोना, कोली, धोर, मकाराना और राजपूत पारसी, वारली आदि जनजातियाँ निवास करती है।

15.8 सांस्कृतिक आयाम

आप इस तथ्य से अवगत हैं कि भारतीय भू–भाग के अनेक क्षेत्रों में जनजातीय समाज निवास करता है तथा यह हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं जिसमें सर्वाधिक जनजातीय संख्या मध्यप्रदेश में निवास करती है। इन जनजातीय संस्कृतियों में विविधताओं के साथ समानताओं के तत्व भी प्रापत होते हैं जैसे यह अपने घरों की दीवारों पर अलंकरण करते हैं जिसके पीछे इतनी मान्यता है। प्रत्येक जनजातीय समुदाय से नृत्य एवं गीत संगीत घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

EXP-001/EXP-006

2011 की जनसंख्या के अनुसार भारत में जनजातियों की जनसंख्या

क्रम	राज्य का नाम संघ शासित राज्य	जनसंख्या	पुरुष	महिला	अनुसूचित जनजाति	अनुसूचित जनजाति (पुरुष)	अनुसूचित जनजाति (महिला)
1.	जम्मू व कश्मीर	12541302	6640662	5900640	1493299	776257	717042
2.	उत्तराखण्ड	10086292	5137773	4945819	291903	148669	143234
3.	राजस्थान	68548437	35550997	32997440	9238534	4742943	4495591
4.	उत्तर प्रदेश	199812341	104480510	95331831	1134273	581083	553190
5.	बिहार	104099452	54278157	49821295	1336573	682516	654057
6.	पश्चिम बंगाल	91276115	46809027	44467088	5296953	2649974	2646979
7.	झारखण्ड	32988134	16930315	16057819	8645042	4315407	4329635
8.	छत्तीसगढ़	25545198	12832895	12712303	7822902	38731941	3949711
9.	मध्यप्रदेश	72626809	37612306	35014503	15316784	7719404	7597380
10.	महाराष्ट्र	112374333	58243056	54131277	10510213	5315025	5195188
11.	सम्पूर्ण भारत	1210569573	623121843	587447730	104281034	52409823	51871211

15.9 जनजातीय सामाजिक संगठन

जनजातीय सामाजिक संगठन गोत्र, नातेदारी, परिवार, विवाह आदि से विशेष रूप से प्रभावित है। भिन्न–भिन्न जनजातीय समाज का सांगठनिक ढाँचा एक ही प्रकार का नहीं है। दक्षिण भारत में निवास करने वाली जनजातियों की प्रमुख सामाजिक इकाई परिवार तथा गोत्र है। मध्य भारत में निवास करने वाली जनजातियाँ वंश परम्परा के आधार पर विभाजित हैं जिसमें समुदाय छोटे–छोटे भाग में बँट जाते हैं। इन विभाजन के बाद भी वह एक–दूसरे के निकट ही रहते है। मध्य हिमालय क्षेत्र में निवास करने वाली

EXP-001/EXP-006

थारू जनजातियों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। परिवार का समूह गोत्र तथा गोत्र का समूह मोइति नामक इकाई का निर्माण करते है। हिमालय के उत्तर पूर्वी क्षेत्र में रहने वाली जनजातीय समाज की पहली इकाई मातृभूमि है मिचोंग कहा जाता है। इसके सदस्यों की मान्यता हैं कि ये एक ही पूर्वज की संतति है। असम की जनजातियाँ भी गोत्र और परिवार में विभाजित होते है। यहाँ कुछ क्षेत्र में से स्त्री तथा पुरुष के गोत्र अलग होते है।

जनजातीय समाज में एकल तथा संयुक्त दोनों प्रकार के पारिवारिक इकाई की प्रथा है। जनजातीय समाज में वैवाहिक पद्धति में विविधता दृष्टिगोचर होती है। इनमें एक पत्नी, बहु पत्नी तथा बहु पति प्रथा का भी प्रचलन है। इस समाज में अधिकांश समाज पितृसत्तात्मक है फिर भी महिलाओं की स्थिति अच्छी है। महिलाओं का लगभग सभी मामलों में सहभाग तथा हस्तक्षेप होता है।

15.10 जनजातीय धर्म

भारतीय जनजातीय समाज में अनेक धार्मिक तत्व उपस्थित है। जनजातियों के उपास्य आराध्य कुछ तो जनजातियों की परम्परा के हैं तथा कुछ बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों के प्रभाव से प्रभावित है। हिमालय के पश्चिमी तथा दक्षिणी पूर्वी इलाकों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा इसलिये इन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मध्य भारत में, निवास करने वाली जनजातियाँ हिन्दू धर्म से अत्यधिक प्रभावित हुई है। उनके आराध्य देवी–देवताओं में हिन्दू देवी–देवता भी शामिल हो गये हैं। अरूणांचल प्रदेश में निवास करने वाली आदि नामक जनजाति दोन्यों पोलो नामक धर्म का अनुसरण करती है जिसके प्रमुख देवता सूर्य तथा चन्द्रमा है। मुण्डा तथा संथाल आदि जनजातियों की धार्मिक मान्यताएँ पवित्र कब्रों से जुड़ी हुई है। कुछ जनजातीय समाज नियतिवाद को मानते है जो उनके कर्मो पर आधारित है, इसको जीनवाद कहा गया है। समुदाय शमन नामक एक शक्ति में विश्वास करती है जो उनकी बुरी शक्तियों से रक्षा करता है।

अधिकांश जनजातीय समुदाय परलोकवाद में विश्वास करते हैं। उनकी मान्यता है कि मृत्यु होने के पश्चात् भी आत्मा अपने कुटुम्बजनों के सम्पर्क में रहती है। इन अवधारणाओं के फलस्वरूप पूर्वज राजा प्रेत पूजा आदि की प्रथा थी। जनजातीय समाज में होता है। ये किसी भी कार्य के आरम्भ के पूर्व अनुष्ठान आयोजित करते हैं। तिब्बत में रहने वाली भंटिया जनजाति बुद्ध को आराध्य देव मानती है परन्तु उनकी मान्यताएँ मठों में पालन होने वाले निराकार बौद्ध धर्म से भिन्न है। उत्तराखण्ड में निवास करने वाली भेटिया जनजाति में कुलदेवता को आराध्य माना गया है जिनमें सभी मानवीय गुण है। वह प्रसन्न तथा रूष्ट भी होते है। थारू जनजाति हिनदू देवी–देवता तथा टोने–टोटके में

EXP-001/EXP-006

भी विश्वास करती है। उड़ीसा में निवास करने वाली जनजातियाँ परोपकारवाद तथा पुनर्जन्म में विश्वास करती है। ये अनेक देवी–देवताओं की उपासना करते है। बोड़ो नामक जनजाति शैव, वैष्णव तथा शाक्त देवताओं की उपासना करते है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न जनजातीय समुदाय भिन्न–भिन्न धार्मिक मान्यताओं को मानते है।

15.11 सारांश

ऐतिहासिक काल के पूर्व से ही भारतीय भू–भाग पर जनजातीयों के प्रमाण प्राप्त होने लगते है तथा वैदिक साहित्य से ही जनजातियों का साहित्य में वर्णन प्राप्त होने लगता है। इनका निवास स्थान मुख्यधारा से दूर प्रकृतिसम्पन्न स्थानों पर कालान्तर में कुछ जनजातीय समाज मुख्य धारा के समाज से मिल गये तथा कुछ अपने पारम्परिक निवास पर रहे। भिन्न–भिन्न भू–भाग पर निवास करने वाले जनजातियों में सांस्कृतिक विविधता दृष्टिगोचर होती है। इनकी अस्मिता के तत्त्व भी एक नहीं है। इनके सामाजिक, आार्थिक तथा धार्मिक संस्थाएँ मुख्यधारा के समाज से भिन्न है। प्रकृति के निकटस्थ होने के कारण यह प्रकृति से अत्यधिक जुड़े हुए है। इनकी उपासना में प्रकृति का मुख्य स्थान हैं। कहीं–कहीं जनजातियों पर हिन्द तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इनके समाज की मुख्य इकाई परिवार तथा गोत्र है। परिवार एकल तथा संयुक्त दोनों प्रकार का होता था। जनजातीय समाज में महिलाओं की स्थिति अच्छी थी।

15.12 बोध प्रश्न

1. जनजाति को परिभाषित करते हुए जनजातीय अस्मिता पर टिप्पणी कीजिए।
2. जनजातियों के भौगोलिक विस्तार पर प्रकाश डालिए।
3. जनजातियों के सामाजिक संगठन पर टिप्पणी कीजिए।

15.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- हरिराम मीणा–आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013।
- शर्मा, डॉ0 श्री नाथ–जनजातीय समान, म0प्र0 हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2015।
- सेन्सेस ऑफ इण्डिया, 1991, स्पेशल टेविल्स शेड्यूल ट्राइबर, भोपाल।
- कुमार ध्रुव, डॉ0 ध्रुव, समाजशास्त्र, अनुसूचित जनजाति, शिवलाल अग्रवाल कम्पनी।
- जैन0 डॉ0 पुखराज – भारत की सांस्कृतिक विरासत।

EXP-001/EXP-006

- दूबे श्यामाचरण, आदिवासी भारत, राजकमल प्रकाशन, देहली।
- बविस्कर ए – इन द बैली ऑफ द रिवर, दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- घोष, जी0 के0, ट्राइबल्स एंड देअर कल्चर, भाग–3, नई दिल्ली, 1992
- घूरे, जी0 एस0, द शेडयूल्ड ट्राइब्स, पापुलर प्रकाशन, मुंबई, तीसरा संकलन, 1963
- सिंह, के0 एस0, आइडेंटिटी, इकोलॉजी सोशल ऑर्गेनाइजेशन, इकॉनामी लिंकेजेस एंड डेवलपमेंअ प्रॉसेज : ए क्वालिटेटिव प्रोफाइल, पीपुल्स ऑफ इण्डिया नेशनल सीरीज, भाग 8, ऑक्सफोर्ड, 1996
- सिंह, के0 एस0, नेशनल सीरीज वाल्यूम्स ऑफ पीपुल ऑफ इंडिया सीरीज, एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, 1992
- वर्मा, आर0 सी0, इंडियन ट्राइब्स थ्रू द ऐजेस, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली
- उप्रेती, हरिश्चन्द्र, भारतीय जनजातियाँ, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1986
- तिवारी, एस0 के0, मध्य प्रदेश के आदिवासी, मध्य प्रदेश अकादमी, भोपाल, 1985
- नायक, टी0वी0, बारह भाई विंझवार–मध्य प्रदेश की एक जनजाति का सांस्कृतिक अध्ययन, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1985
- मेयर, लूसी, सामाजिक न विज्ञान की भूमिका, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी,पटना, 1986
- शर्मा, ब्रह्मदेव, आदिवासी विकास, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1986
- फुक, एस, द गोंड एण्ड भूमिया ऑफ ईस्टर्न मंडल, मुंबई, न्यू लिट्रेचर, 1968 (दूसरा संस्करण)
- पास्कल बोयर, (2021), द रिलीजन एक्सप्लेड इवोल्यूशनरी ऑरिजिन्स ऑफ रिलीजियस थॉट्स, न्यूयार्क : बेसिक बुक्स।
- चन्ना, सुभद्रा मित्रा, (2005). द डिसेंट ऑफ द पांडया : रिचुअल एण्ड कॉस्मोलॉजी द जट्स ऑफ गढ़वाल. इन द यूरोपियन बुलेटिन ऑफ हिमालयन रिसर्च वॉल्यूम 28 : 67–97।

EXP-001/EXP-006

- चन्ना, सुभद्रा मित्रा. (2013). द इनर एण्ड सैल्फस, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- चन्ना, सुभद्रा मित्रा. (2020). एन्थ्रोपोलोजिकल पर्सपेक्टिव्स ऑफ इंडियन ट्राइब्स– हैदराबाद : ऑरिएण्ट, ब्लैक्सवान।
- ई.ई. एवाम्स– प्रीचार्ड. (1937). विचक्राफ्ट, ऑरेकल्स एण्ड मैजिक अमंग द अजान्दे, न्यूयार्क : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- जॉर्ज जेम्स फरजर, (1922). द गोल्डन बॉह. लन्दन : मैकमिलन
- हयूमसो – नीनी. 2012. द मैसक्यूलिनाईजिंग गॉड : रिक्लेमिंग द इन्क्लूसिव मीनिंग ऑफ गॉड इन (ट्राइबल ट्रैडीशन्स) इन हयूमसोनीनी, पॉल पीमोमो एण्ड वेनुसा टुनी (एड्स नागाज : एसज़े फॉर रैस्पॉन्सिबल चेन्ज दीमापुर) हरमिटेड पब्लिशिंग हाउस
- ऐमथॉट खॉग्रीवो, (2014) लैण्डस्केप, मैमोरीज एण्ड प्री–क्रिश्चियन तंगखुल एसकेटोलॉजी. इन आर. याशम (एड्स) एनकाउन्टिंग मॉडर्निटी. नई दिल्ली : एण्ड शिकागो, चकिननैक पब्लिकेशन
- फीलिक्स पैडेल. (2011). सैक्रीफाइसिंग पीपुल : इनवोजन ऑफ ए ट्राइबल लैण्डस्केप, हैदराबाद, ऑरिएण्ट ब्लैक्सान।
- पॉल रेडिन. 1927. ''प्रीमिटिव मैन एज फिलॉसफर न्यूयार्क : डी. एप्लीटोन एण्ड कम्पनी
- रंजना रे. (एड 2019). ''ट्राइबल हैल्थ केयर सिस्टमस : ए ट्रिब्यूड टू पी. ओ. बाडिंग कलकत्ता : द एसियाटिक सोसाइटी।
- ई. मैलफोर्ड स्पाईरो. (1967). ''रिलीजन : प्रॉब्लम ऑफ डैफीनेशन एण्ड एक्सप्लेशन, इन माइकिल बैन्टन (एड) ''एन्थ्रोपोलीकल एप्रोचिज टू द स्टडी ऑफ रिलीजन, लन्दन : रूटलैज
- ईमैलफोर्ड स्पाइरो. (1978). ''बर्मीज सुपरनेररेलिज्म फिलाडैलफिया : इन्स्टीट्यूट ऑफ हयूमन रीजन।
- माया उन्नीथन कुमार. (1997). आइडैन्टिटी, जैन्डर एण्ड पॉर्वेटी ऑक्सफोर्ड :

EXP-001/EXP-006